योग-मीमांसा

स्वामी सत्यपति

ओ३म्

योग-मीमांसा

(योग का यथार्थ स्वरूप तथा योग से सम्बंद्धित भ्रान्तियों का निराकरण)

(नवीन पांचवा संशोधित संस्करण)
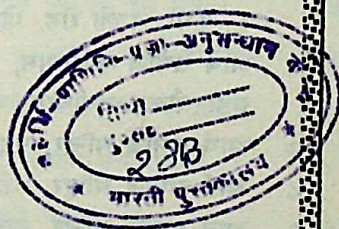
लेखक

स्वामी सत्यपति परिव्राजक

प्रकाशक

दर्शनयोग महाविद्यालय

आर्यवन विकास क्षेत्र रोजड़, पो. सागपुर,

जि. सा. कां. गुजरात-३८३३०७

दूरभाष - (०२७७४) ७२१७

मुख्य वितरक

डॉ. सद्गुणा आर्या

'सम्यक्'

पत्रालय-गांधी ग्राम, जूनागढ़ (गुजरात) ३६२००१

प्रकाशन तिथि : नवम्बर १९९९ कार्तिक अमावस्या २०५६ विक्रमी

छठा संस्करण : सृष्टि संवत् १९६०८५३०१००

❖ प्राप्ति स्थान ❖

१. **आर्य समाज मन्दिर,** महर्षि दयानन्द मार्ग,
रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद (गुजरात) ३८००२२

२. **गोविन्दराम हासानन्द,** ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६

३. **मधुर प्रकाशन,** आर्य समाज, बाजार सीताराम, दिल्ली-६

४. **आर्य प्रकाशन,** ८१४, कुण्डेनवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-६.

५. **चौखम्बा ओरीयेन्टलिया,**
९, यु.बी. बग्लो रोड, पोस्ट बोक्ष नं. २२०६, दिल्ली-७.

६. **आर्य समाज गांधीधाम,** महर्षि दयानन्द मार्ग,
झंडा चौक, गांधीधाम, कच्छ, गुजरात-३७०२०१

७. **आर्य समाज मन्दिर,** महर्षि दयानन्द मार्ग, पोरबन्दर, गुजरात

८. **आर्य समाज मन्दिर,** महर्षि दयानन्द मार्ग, हाथी खाना, राजकोट, गुजरात

९. **आर्य समाज मन्दिर,** दत्त अपार्टमेन्ट, मकरपुरा रोड, वडोदरा, गुजरात

१०. **आर्य समाज मन्दिर,** नवाडेरा, भरूच-३९२००१

११. **आर्य समाज मन्दिर,** टंकारा, जि. राजकोट (गुजरात)

१२. **आर्य समाज मन्दिर,** लखधीरवास, मोरबी, जि. राजकोट (गुजरात)

१३. **आर्य समाज मन्दिर,** दातार रोड, जूनागढ़ (गुजरात) ३६२ ००१.

१४. **आर्य समाज मन्दिर,** स्टेशन रोड, आणंद, जि. खेडा (गुजरात)

१५. **आर्य रणसिंह यादव,** पो. : खेड़ी खुमार, जि. झज्जर, हरिणाया-१२४१०३

दर्शन योग महाविद्यालय

आर्य वन, रोजड़ पो. सागपुर, जि. साबरकांठा, (गुजरात) ३८३३०७

दूरभाष : (०२७७४) ७७२१७, ७७७१७

लागत व्यय : १५/- रुपये

मुद्रक : आकृति प्रिन्टर्स, अहमदाबाद

विषय-सूची

(पूर्वार्द्ध)

संपादकीय

आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध योगनिष्ठ-संन्यासी स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक की *'योग मीमांसा'* का नवीन संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है । इस पुस्तक की इनती अधिक मांग रही कि थोड़े से ही काल में इसे पांच वार प्रकाशित कराना पड़ा है, यही इस पुस्तक के महत्त्व को दर्शाता है ।

इस पुस्तक का न केवल हिन्दी भाषी प्रान्तों में स्वागत हुआ अपितु देश के सुदूर प्रान्तों में भी योग जिज्ञासुओं ने इस पुस्तक में इतनी रुचि ली कि वहाँ की प्रान्तिय भाषाओं में इसका अनुवाद करवा कर इसे प्रकाशित कराया । अब तक यह पुस्तक अंग्रेजी, गुजराती, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ तथा उड़िया भाषाओं में अनुदित होकर प्रकाशित हो चुकीं है ।

इस पुस्तक को पढ़कर जहाँ हजारों योग साधकों को योग विषयक 'यथार्थ बोध हुआ साथ ही न केवल सामान्य जनों को बल्कि विद्वानों, उपदेशकों तथा संन्यासी महानुभावों की भी योग विषयक अनेक भ्रान्तियाँ दूर हुईं और इस पुस्तक की बहुत प्रशंसा की ।

पूर्व संस्करणमें जो भी अशुद्धियाँ प्रतीत हुईं उन सबका ग्रन्थ लेखक महानुभावने इस नवीन संस्करण में संशोधन कर दिया है । आशा है योग जिज्ञासु इससे लाभ उठायेंगे । योग विषयक और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये लेखक की *'सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार'* नामक पुस्तक पढनी चाहिये ।

ज्ञानेश्वरार्य :
दर्शन योग महाविद्यालय

भूमिका

योग समस्त विश्व के कल्याण का आधार है । योग का प्रचार-प्रसार करना-कराना और जीवन में उतारना प्रत्येक मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है । इसलिए मैं योग के विषय में लिखने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ । मेरा इस ग्रन्थ के लिखने का मुख्योद्देश्य यह है कि जो वैदिक योग के प्रयोग से मुझे लाभ हुआ, उसको अन्य लोगों तक पहुँचाया जा सके और योग के नाम पर प्रचलित भ्रान्तियों का निवारण हो सके ।

इसके पूर्वार्द्ध में योगदर्शन के आधार पर योग का वास्तविक स्वरूप, उसका फल, साधन, बाधकादि को समझाने का प्रयास किया है ।इस पूर्वभाग के अध्ययन, मननादि से योग-जिज्ञासु सरलतापूर्वक योगमार्ग पर चलकर सफलता प्राप्त कर सकता है और अन्यों का भी मार्ग-दर्शक बन सकता है । उत्तरार्द्ध में उन योग-भ्रान्तियों का वर्णन है, जिनका देश-विदेश में लेख, उपदेश और आचरण के माध्यम से प्रचार-प्रसार किया जा रहा है ।

इन योग-भ्रान्तियों को ठीक प्रकार से जाने बिना योगमार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन है ।इन योग-भ्रान्तियों का खण्डन सबके हित के लिए किया है, किसी की हानि के लिये नहीं । पक्षपात को छोड़कर जो सत्य है, उसको सत्य और जो असत्य है उसको असत्य बतलाना मेरा मुख्योद्देश्य है । वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों के अध्ययन तथा क्रियात्मक योगाभ्यास के करने से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि वैदिक योग ही समस्त दुःखों से छुड़ाकर मोक्षानन्द की प्राप्ति कराने का सच्चा साधन है, अन्य कोई योग नहीं । जो इस ग्रन्थ में कोई त्रुटि रह गई हो और कोई सहृदय व्यक्ति हमें सप्रमाण त्रुटियों के प्रति सुझाव देंगे तो उसको समझने-समझाने के पश्चात् ठीक कर दिया जायेगा ।

अन्त में मैं प्रथम उस परम पिता परमात्मा का धन्यवाद करता हूँ, जिसकी महती कृपा से मैं इस ग्रन्थ-रचना में सक्षम हो सका । और उन ऋषि-महर्षियों का भी कृतज्ञ हूँ, जिनके ग्रन्थों के पढ़ने से योग के वास्तविक स्वरूप को समझने में सहायता मिली । उन विद्वानों का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनकी सन्निधि में रहकर मैंने विद्या पढ़ी तथा उन विद्वानों एवं महानुभावों का भी मैं धन्यवादी हूँ जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थ के लेखन एवं संशोधन में सहयोग प्रदान किया । मैं उन व्यक्तियों का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे आर्थिक दृष्टि से इस कार्य में सहयोग दिया है ।

-स्वामी सत्यपति 'परिव्राजक'

ओ३म्

योग-मीमांसा

उद्देश्य-

योग मानव-जीवन के कल्याण का आधार है। योग के बिना अन्य सभी साधन पूर्णानन्द की प्राप्ति करवाने में समर्थ नहीं हैं। प्रत्येक प्राणी समस्त दुःखों से छूटकर पूर्ण, स्थायी, दुःखरहित आनन्द को प्राप्त करना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति योग से ही सम्भव है। इसलिए योग के वास्तविक स्वरूप को जानना व जनाना और यथाशक्ति उस पर चलना-चलाना मुख्योद्देश्य है। योग के स्वरूप को न जानने और उस पर न चलने के कारण मनुष्य-जाति प्रायः दुःख-संतप्त है। इस वर्तमानकाल में योग के नाम पर बहुत कुछ प्रयास किये जा रहे हैं। परन्तु योग के स्थान में अयोग सिखाया जा रहा है। यदि इस झूठे योग को न रोका गया तो इसके परिणाम बहुत भयंकर होंगे। इस अन्ध-परम्परा से सच्चा योग भी कलंकित हो जायेगा। इसलिये योग के वास्तविक स्वरूप को जानना अत्यन्त आवश्यक है। योग क्या है और अयोग क्या है, इसको मनुष्य जान सकें, अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकें इसलिए योग के विषय में लिखना प्रारम्भ किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में योग का स्वरूप, योग का फल, उसके साधन और योग-मार्ग में आने वाले बाधकों का स्वरूप समझाने का प्रयास किया है। उत्तर भाग में यह बतलाया है कि योग के नाम पर क्या-क्या भ्रान्तियाँ प्रचलित हो गई हैं। इन दोनों भागों का अध्ययन करने पर यह निश्चय हो जायेगा कि वास्तविक योग क्या है ? और योग के नाम पर सिखाया जाने वाला अयोग क्या है ? आशा है कि बुद्धिमान् योग के जिज्ञासु इसको पढ़-पढ़ाकर अपना और अन्यों का कल्याण करेंगे।

योग शब्द " **युज समाधौ** " धातु से घञ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। योगदर्शन में अन्य धातु से निष्पन्न योग शब्द नहीं लिया जाता। क्योंकि व्यास-भाष्य में लिखा है-"**योगः समाधिः**" (योग० १।१) योग समाधि को कहते हैं और यह सब अवस्थाओं में रहने वाला चित्त का धर्म है। चित्त की पांच अवस्थायें हैं। "**क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः**" (योग० १।१) क्षिप्त=अति चञ्चल। मूढ=मोहमयता-मूर्च्छित रूप। विक्षिप्त=चित्त की एकाग्रता का उत्पन्न होना और किसी कारण से भंग हो जाना। एकाग्र=एक विषय में चित्त का लम्बे काल तक लगे रहना, मध्य में अन्य विषय का न आना। इसी को योगदर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। निरुद्ध=सम्प्रज्ञात समाधि का भी रुक जाना, इसी को योगदर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि व निर्बीज समाधि कहा है। और इसी अवस्था में ईश्वर का साक्षात्कार होता है। **प्रश्न-क्या यह अवस्था ज्ञानशून्य है? उत्तर-ज्ञानशून्य नहीं है, यह ज्ञान की ऊँची अवस्था है।** जो लोग इस अवस्था को ज्ञान-शून्य मानते हैं, वे योग-विद्या को नहीं जानते। क्योंकि इस अवस्था में विकृति और प्रकृति के स्वरूप को ठीक प्रकार से जानकर जीव ईश्वर के स्वरूप में मग्न होता है। ईश्वरोपासना से ज्ञान की महती प्रवृद्धि होती है। इसलिए इस अवस्था को ज्ञान से शून्य मानना अनुचित है। चित्त और चित्त की पांच अवस्थाओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना योगजिज्ञासु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। योगाभ्यास करने वाले प्रायः चित्त को चेतन=ज्ञानवान् मानते हैं। अतः वे चित्त को वश में नहीं कर पाते।

योग का स्वरूप

आज-कल योग का स्वरूप अनेक प्रकार से बतलाया जाता है। कोई कहता है ब्रह्म में मिल जाने का नाम योग है। कोई कहता है भूमि में दबकर बैठने का नाम योग है। कोई कहता है बहुत से आसनों के करने का नाम योग है। कोई कहता है भांगादि द्रव्यों को खा-पीकर मस्त रहने का नाम योग है। कुछ लोग कई दिन तक एक व्यक्ति का उपवास करवाकर, उसकी नाड़ी को दबाते हैं, उससे मूर्च्छा आ जाती है, उस मूर्च्छा अवस्था को योग कहते हैं। कोई कहते हैं कि ज्ञानशून्य अवस्था का नाम योग है। कोई कहता है

लम्बे काल तक साँस रोके रहने को नाम योग है, कोई कहता है हठयोग के नेती, धौती आदि षट्कर्म का नाम योग है। कोई कहता है मौन होकर एकान्त में बैठे रहने का नाम योग है। कोई कहता है अपने माने हुए इष्टदेवता के लिए पशुओं को मारकर उनकी बलि चढ़ाने का नाम योग है। इस प्रकार और भी अनेक अन्ध-परम्परायें योग के नाम पर चल पड़ी हैं। वास्तव में इन योग नाम से प्रचलित परम्पराओं में सच्चा योग एक भी नहीं है।

श्री पतञ्जलि जी ने योग का वास्तविक स्वरूप यह बतलाया है-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योग० १। २)

चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। चित्त सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन तीन जड़ वस्तुओं के मेल से बना हुआ, एक जड़ पदार्थ है। चित्त के जड़ होने में प्रमाण-"**चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्**" (यो० १। २ पर व्यासभाष्य)। चित्त में जीव की प्रेरणा से जो नाना प्रकार की तरंगे उत्पन्न होती हैं, उन्हीं को वृत्ति कहते हैं। जैसे दर्पण में चित्र उतरते हैं वैसे ही चित्त में भी उतरते हैं। उन वृत्तियों को जानकर वैराग्य और अभ्यास से रोक देने का नाम योग है। इस योग के मुख्यरूपेण दो भेद हैं-एक सम्प्रज्ञात दूसरा असम्प्रज्ञात।

जब मनुष्य अपने चित्त पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिस विषय में चित्त को लगाना चाहे, लम्बे काल तक लगा लेता है, यही सम्प्रज्ञात समाधि है। जैसे वाचक और वाच्य-सम्बन्ध को जानकर जप किया जाता है। 'ओम्' ईश्वर का वाचक=कहने वाला है और ईश्वर एक वस्तु है जो ओम् शब्द के द्वारा कही जाती है। इस वाच्य-वाचक सम्बन्ध को जानकर एक व्यक्ति अर्थसहित जप करता है और उस जपकाल में किसी अन्य विषय को मन में नहीं आने देता, यह एकाग्रता है अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि है। इसी सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि भी कहते हैं। इस सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्वावस्था में ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। उस अवस्था में योगाभ्यासी की बुद्धि सत्य को ही धारण करती है असत्य को नहीं। इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद योगी सांसारिक लोगों को वैसे ही देखता है जैसे कोई ऊँचे पर्वत के शिखर पर चढ़कर नीचे वालों को देखता है। वह स्वयं अज्ञान और कष्टों से छूटकर वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है और सांसारिक लोगों को क्लेशग्रस्त देखता है। ईश्वर का अनुभव होने से परवैराग्य की

उत्पत्ति होती है । उससे इस सम्प्रज्ञात समाधि का भी अवरोध हो जाता है,

यह असम्प्रज्ञात समाधि कहाती है । इसी को निर्बीज समाधि भी कहते हैं । इस अवस्था में परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है । उससे विशेष ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति होती है । जैसे अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले में अग्नि सर्वत्र दिखाई देती है, वैसे समस्त संसार में परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है । जिस प्रकार मधु के सेवन से एक लौकिक मनुष्य को आनन्द का अनुभव होता है वैसे ही परमात्मा के प्रत्यक्ष होने पर योगी को आनन्द की अनुभूति होती है ।

लौकिक सुख और मोक्ष-सुख में अन्तर

लौकिक सुख और परमात्मा से मिलने वाले सुख में यह अन्तर है कि लौकिक सुख क्षणिक होता है और परमात्मा से मिलने वाला सुख स्थायी होता है । लौकिक सुख में दुःख मिश्रित रहता है और अलौकिक में नहीं । लौकिक सुख से व्यक्ति ऊब जाता है और ईश्वर के सुख से ऊबता नहीं । लौकिक सुख से व्यक्ति रोगी भी हो जाता है, परमात्मा के सुख से रोगी नहीं होता । लौकिक सुख को भोगने वाला मनुष्य मन, इन्द्रियों के वश में आ जाता है और परमात्मा के आनन्द को भोगने वाला इनको अपने वश में कर लेता है इत्यादि अनेक प्रकार का अन्तर है । मानव-जीवन में ईश्वर-साक्षात्कार की ही एक ऐसी अवस्था है जिसमें मनुष्य यह अनुभव करता है कि जो कुछ मैंने प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया है, अब और सुख व सुख-साधनों की आवश्यकता नहीं है । यदि सांसारिक व्यक्ति दुःख से छूटने और सुख को प्राप्त करने के लिए सर्वस्व की आहुति देकर चक्रवर्ती राज्य को भी प्राप्त कर लेवे तो भी योगी-जैसा अनुभव नहीं कर सकता । इससे यह सिद्ध होता है कि मानव-जीवन की पूर्ण सफलता का आधार योग है, सांसारिक वस्तुएँ नहीं । अतः प्रत्येक मनुष्य को तन, मन, धन से योग की प्राप्ति करनी चाहिये और योग-विरोधी मार्ग को सर्वथा छोड़ देना चाहिये ।

योग का मूल वेद

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ (यजु० ११ । १)

इसकी व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-"(युञ्जानः) योग करने

वाले मनुष्य (**तत्त्वाय**) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये, (**प्रथमं**) (**मनः**) जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (**सविता**) परमेश्वर उनकी (**धियम्**) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है (**अग्नेर्ज्यो०**) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (**अध्याभरत्**) यथावत् धारण करते हैं (**पृथिव्या०**) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है" ।

(ऋ० भा० भू० उपासना विषय।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

(यजु० ३१ । १८)

इस मन्त्र का भाव यह है कि-एक विद्वान् परमात्मा को जानकर दूसरों को यह बतलावे कि मैं उस महान् गुणों से युक्त पुरुष परमात्मा को जानता हूँ, जो ज्ञान से परिपूर्ण और अज्ञान से पृथक् है । उस परमात्मा को जानकर ही मनुष्य जन्म-मरण के दुःख से छूट सकता है, और कोई दूसरा मार्ग मुक्ति का नहीं है । इससे यह सिद्ध होता है कि योग का आदि मूल वेद है । इसी वैदिक योग को आदि सृष्टि से योगी बतलाते आये हैं । वैदिक योग को ही श्री पतञ्जलि जी ने योगदर्शन में दर्शाया है ।

योग का फल

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (योग० १ । ३)

जब सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब सर्वद्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीव की स्थिति हो जाती है अर्थात् अपने और परमात्मा के स्वरूप को ठीक प्रकार से जानकर प्राकृतिक पदार्थों की उपासना को छोड़कर परमात्मा के स्वरूप में मग्न हो जाता है और उससे ज्ञान तथा आनन्द की प्राप्ति होती है । इस अवस्था में जीव मोक्ष जैसा अनुभव करता है । यह चित्त की निरुद्धावस्था वा असम्प्रज्ञात समाधि है । इस अवस्था में ईश्वर का साक्षात्कार होता है । जिस प्रकार से अग्नि, वायु, आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष उनके विशेष गुणों से होता है, वैसे ही ईश्वर का प्रत्यक्ष भी ईश्वर के ज्ञान, आनन्दादि गुणों से होता है ।

व्यासभाष्य में इस सूत्र का यह अर्थ लिखा है- **"स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये"** वृत्तिनिरोध होने पर जीव की अपने स्वरूप में स्थिति

हो जाती है, जैसे मोक्ष में । ऋषि दयानन्द ने इस सूत्र का अर्थ किया है-"(तदा०) जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है ।" (सत्यार्थप्रकाश ९ समुल्लास) । यहाँ पर एक बात ध्यान देने की है कि व्यासभाष्य में और ऋषि दयानन्द के अर्थ में विरोध प्रतीत होता है । वास्तव में कोई विरोध नहीं है । व्यासभाष्य में लिखा है- **"यथा कैवल्ये"** इसका यह अभिप्राय है कि जैसी मोक्ष में परमात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है वैसी इस शरीर के रहते हुए समाधि-दशा में जीव की स्थिति होती है । ऋषि दयानन्द ने भी यही कहा है कि ईश्वर के स्वरूप में जीव की स्थिति होती है । कैवल्य के दृष्टान्त से यह सिद्ध है कि ऋषि-व्यास भी सर्वद्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीव की स्थिति को ही बतला रहे हैं । अतः विरोध मानना अनुचित है ।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र (योग० १ । ४)

समाधि से भिन्न अवस्था में जीव स्वयं को वृत्तियों के समान देखता है । वृत्ति, इन्द्रिय, शरीर को और अपने आपको एक समझता है । यह एक अज्ञान की अवस्था है । समाधि में वास्तविक ज्ञान के होने से आनन्द को भोगता और समाधि के न रहने पर नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है । इसी का नाम बन्धन है । ऐसा ऋ०भू०के उपासना विषय में ऋषि दयानन्द ने इस सूत्र पर लिखा है । ऋषि का उद्देश्य केवल इतना है कि समाधि अवस्था से भिन्न अवस्था में योगी की स्थिति किस प्रकार की होती है और लौकिक मनुष्य के जीवन से योगी के जीवन में क्या विशेषता है । विचार करना है कि उन्होंने इस सूत्र का पूर्णार्थ नहीं किया है । अतः इस में कोई दोष नहीं आता ।

चित्त की वृत्तियों के प्रमुख भेद

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः (योग० १ । ५)

वृत्तियाँ पांच प्रकार की हैं, क्लिष्ट और अक्लिष्ट । जो वृत्तियाँ मनुष्य को अज्ञान, अधर्म, अनीश्वरता की ओर ले जाती हैं वे क्लिष्ट हैं । जो ज्ञान, धर्म और ईश्वर की ओर ले जाती हैं वे अक्लिष्ट कहाती हैं । परन्तु पांच वृत्तियाँ हैं, वे दो-दो प्रकार की हैं । प्रत्येक वृत्ति सुख और दुःख दोनों को उत्पन्न करती है । **प्रमाणवृत्ति-** जैसे एक व्यक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से अपने मित्र

को देखता है तो सुख उत्पन्न होता है तो और किसी दुःखदायक व्यक्ति को देखता है तो दुःख उत्पन्न होता है। इसी प्रकार से अनुमान और शब्द-प्रमाण को भी समझ लेना चाहिए। **विपर्ययवृत्ति-** एक व्यक्ति अन्धकार में पड़ी रज्जु=रस्सी को देखता है तो उसको सांप समझकर दुःख का अनुभव करता है। इसी प्रकार रज्जु को चाहने वाला जब सांप को अन्धकार में रज्जु की भांति देखकर यह समझता है कि मेरा रस्सी से होने वाला कार्य इससे सिद्ध हो जाएगा, वह सुख का अनुभव करता है। **विकल्पवृत्ति-** किसी से कहा कि बन्ध्या का पुत्र आ रहा है और वह बहुत ही सुखदायक है। इस वाक्य को सुनकर सुख उत्पन्न होता है। यदि यह कहा जाये कि वह दुःखदायक है, तो सुनने वाला दुःख का अनुभव करता है। यह **विकल्प** वृत्ति दो प्रकार की हुई। **निद्रावृत्ति-**जब सात्त्विक निद्रा आती है तो सुख उत्पन्न होता है और जब राजसिक निद्रा आती है तब दुःख उत्पन्न होता है। **स्मृति-**सुखदायक विषय की स्मृति से सुख उत्पन्न होता है और दुःखदायक अनुभव किये विषय की स्मृति से दुःख उत्पन्न होता है। इसलिए कहा है कि वृत्तियाँ पांच प्रकार की हैं और वे क्लिष्ट, अक्लिष्ट भेद से दो-दो प्रकार की हैं।

चित्त-वृत्तियों का स्वरूप

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः (योग० १ । ६)

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये पांच वृत्तियों के नाम हैं। इनके रोकने से योग की सिद्धि होती हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि (योग० १ । ७)

प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इन तीनों को **प्रमाण वृत्ति** कहते हैं। जो पांच ज्ञानेन्द्रियों और रूप, रसादि विषयों के सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शाब्दिक, असत्य और संशयात्मक न हो, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे किसी ने अग्नि में हाथ डाला तो वह जल गया। इससे निस्सन्देह यह ज्ञान हो गया कि अग्नि एक जलाने वाला पदार्थ है। इसी का नाम **प्रत्यक्ष प्रमाण** है। प्रत्यक्ष अग्नि को देखने के पश्चात्, जो धूम को देखने से अग्नि का ज्ञान होता है, यह **अनुमान प्रमाण** है। जो वेद अथवा किसी सत्यवादी के वचन से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह **आगम प्रमाण** है। जैसे कि **"सत्यमेव जयते"** सत्य की ही जीत होती है। समाधिकाल में इन तीनों प्रमाणों को रोक दिया जाता

है तथा व्यवहार[illegible] में इसी आगम प्रमाण [illegible] सिद्धि की जाती है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् (योग० १ । ८)

विपर्यय=मिथ्याज्ञान है, जो पदार्थ के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रहता। जैसे कि एक व्यक्ति अन्धेरे में रज्जु को साँप समझ लेता है। इसी को **विपर्ययवृत्ति** कहते हैं। इसी प्रकार से अनित्य शरीर को नित्य समझना और नित्य जीव को नाशवान् समझना। असत्यभाषण, चोरी आदि अशुद्ध को शुद्ध समझना और सत्यभाषणादि शुद्ध को अशुद्ध समझना। इन्द्रियों के विषयों का अत्यन्त भोग करने में सुख समझना और समाधि से मिलने वाले आनन्द में दुःख समझना। इसी प्रकार से शरीर, मन, इन्द्रियाँ, जो जड़ हैं, उनको चेतन समझना और जो आत्मा चेतन है, उसको जड़ समझना, यह **विपर्ययवृत्ति** का स्वरूप है। जब तक यह मिथ्याज्ञान विद्यमान रहता है तब तक समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती। संसार में देखा जाता है कि प्रायः योगाभ्यासी यह समझते हैं कि मन एक चेतन पदार्थ है और प्रयत्न करने पर भी वश में नहीं आता। यह विपर्ययवृत्ति का ही परिणाम है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः (योग० १ । ९)

जो शब्दज्ञान से उत्पन्न होती है और जिसमें उससे कही जाने वाली वाच्यवस्तु नहीं होती, वह विकल्पवृत्ति है। जैसे बन्ध्या का पुत्र, आकाश का फूल आदि। इन शब्दों को सुनकर व्यक्ति यह समझता है कि बन्ध्या का पुत्र होता है, आकाश का फूल भी होता है। इन शब्दों के सुनने से जो यह तरंग उत्पन्न होती है कि बन्ध्या का पुत्र होता है, यही विकल्पवृत्ति है। इसी प्रकार से जहाँ-जहाँ ऐसी स्थिति हो, वहाँ-वहाँ पर विकल्पवृत्ति समझनी चाहिये। जब कोई योगाभ्यासी ध्यान में बैठा हो और कोई यह कहे कि यहाँ पर भूत रहते हैं और वे मनुष्य को मारकर खा जाते हैं। इस वाक्य को सुनकर ध्यान करने वाला यह मान लेता है कि यह बात सत्य ही है और ध्यान को छोड़कर वहाँ से चल पड़ता है। इस विकल्पवृत्ति का परिज्ञान करना आवश्यक है, क्योंकि यह भी समाधि में बाधक होती है।

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा (योग० १ । १०)

जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था के अभाव की प्रतीति को आश्रय बनाने वाली वृत्ति को निद्रा कहते हैं। यह निद्रा-वृत्ति भी समाधि में बाधक होती है।

इसलिये इसको रोकना भी आवश्यक है । (प्रश्न) – क्या २४ घण्टे निद्रा रोकने से समाधि सिद्ध होती है ? (उत्तर) नहीं । केवल समाधि-काल में निद्रा का रोकना आवश्यक है । ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ९वें समुल्लास में लिखा है कि–मुमुक्षु को न्यून से न्यून नित्य प्रति दो घण्टा ध्यान अवश्य करना चाहिये । इस समय को दो भागों में विभाजित करके एक घण्टा प्रातःकाल और एक घण्टा सायंकाल हो सकता है । यदि कोई अधिक करना चाहे तो अधिक भी कर सकता है । परन्तु २४ घण्टे योगाभ्यास करना आवश्यक नहीं है । जो लोग २४ घण्टे निद्रा को जीतना समाधि के लिये आवश्यक मानते हैं, वे योग के स्वरूप को नहीं जानते । आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिये आवश्यक हैं । इनके बिना व्यक्ति रोगी होकर योगाभ्यास के योग्य नहीं रहता । कुछ लोग रात्रि के १२ बजे उठकर बैठ जाते हैं । उनकी समाधि की अवस्था न होकर निद्रा की अवस्था हो जाती है । वे निद्रा की अवस्था में कई घण्टे तक रहकर भी यही कहते हैं कि मेरी इतने घण्टे तक समाधि लगी रही । यह केवल स्वयं को योगी सिद्ध करने के लिये आडम्बर मात्र है । इस लिये ठीक समय पर सोना और ठीक समय पर उठकर, निद्रा-रहित होकर योगाभ्यास करना ही निद्रा का जीतना है, २४ घण्टे न सोना नहीं ।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः (योग० १ । ११)

अनुभव किये विषय का पुनः स्मरण आना स्मृतिवृत्ति है । जिस समय साधक ध्यान करता है, उस समय अनुभव किये विषयों की स्मृति आती है । उस स्मृति से समाधि भंग हो जाती है । इस स्मृति के न रुकने के कारण योगाभ्यासी हताश होकर योगाभ्यास को छोड़ देता है । कई बार तो यह अनुभव होता है कि ध्यान के समय ही ये विचार मन में आते हैं । वास्तव में ऐसी बात नहीं है । विचार-तरंगें तो ध्यान से भिन्न काल में भी चलती रहती हैं, परन्तु साधक उन विचारों का ध्यान नहीं रखता । स्मृति-वृत्ति को रोकने के लिए यह जानना आवश्यक है कि ये स्मृतियाँ स्वयं नहीं आतीं । इनको जीव लाता है । अज्ञानता के कारण ध्यान करने वाला यह समझता है कि मन एक चेतन पदार्थ है, वह इन स्मृतियों को लाता रहता है । अत मैं इन विचारों को नहीं रोक सकता । यदि व्यक्ति यह समझ लेता है कि मन, इन्द्रियाँ, शरीर ये सब जड़-वस्तुयें हैं और इन्हें अच्छे वा बुरे कार्य में

चलाने वाला मैं हूँ तो साधक को स्मृति को रोकने में शीघ्र ही सफलता मिल जाती है।

वृत्तियों को रोकने के उपाय

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (योग० १ । १२)

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उन वृत्तियों का निरोध किया जाता है। विवेक, वैराग्य और अभ्यास ये वृत्ति-निरोध के अनिवार्य साधन हैं। इन तीनों के बिना वृत्तियों को रोकना सम्भव नहीं है। विवेक का अभिप्राय है-ईश्वर, जीव और प्रकृति, विकृति का व्यावहारिक ज्ञान। केवल शाब्दिक ज्ञान से विवेक की सिद्धि नहीं होती। कुछ लोग यह कहते हैं कि मन को जितना वश में करने का उपाय किया जाता है, वह उतना ही चञ्चल हो जाता है और उसको खुला छोड़ने से अपने आप वश में आ जाता है। यह तो वैसी ही बात है कि जैसे कोई व्यक्ति कार को चलाता जाये और उसको नियन्त्रण में न रखकर खुला छोड़ देवे। यदि कार को चलाने वाला उसको नियन्त्रण में नहीं रखता तो दुर्घटना से अनर्थ को प्राप्त होता है, उसी प्रकार से मन को खुला छोड़ने से मनुष्य अनर्थ को प्राप्त होता है। क्योंकि जैसे कार एक जड़ वस्तु है, जहाँ उसे ले जाना चाहें लेजाया जा सकता है, वैसे ही मन भी एक जड़ वस्तु है, उसको नियन्त्रण में रखकर ही अभीष्ट कार्य में लगाया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

अभ्यास का स्वरूप

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः (योग० १ । १३)

उस अभ्यास और वैराग्य में से जो चित्त की स्थिति के लिए यत्न किया जाता है उसको अभ्यास कहते हैं। चित्त की एकाग्रता को स्थिति कहते हैं और उस स्थिति की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसका नाम अभ्यास है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, इन सबका मन, वचन, कर्म से आचरण करना अभ्यास है। मन को पूर्णरूपेण वश में करना असम्भव-सा प्रतीत होता है, परन्तु विवेक, वैराग्य और अभ्यास का ठीक प्रकार से प्रयोग करते-करते मन अधिकार में आ जाता है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः (योग० १ । १४)

वह अभ्यास तो दीर्घकाल पर्यन्त, निरन्तर, सत्कार से सेवन किया हुआ दृढावस्था वाला हो जाता है। दीर्घकाल का अभिप्राय है कि जब तक अशुभ वासनायें दग्ध=भुने हुए बीज की भांति न हो जायें, तब तक अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास को निरन्तर करना चाहिए। मध्य-मध्य में छोड़ देने से वासनायें पुनः उभरकर बाधक बन जाती हैं। सत्कार का अभिप्राय है तप, ब्रह्मचर्य, श्रध्धा, विद्यापूर्वक अभ्यास करना। इस विधि से किया गया अभ्यास अशुभ संस्कारों से न दबने वाला बन जाता है। और वैराग्य के होने पर भी यदि अभ्यास को ठीक न किया जाये तो पुनः योगाभ्यासी योग-मार्ग से भटक जाता है।

वैराग्य का लक्षण

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योग० १ । १५)

जो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये हुए विषय हैं, उनको दृष्ट कहते हैं। जो शास्त्र और आचार्यों के उपदेश से सुने हुए हैं, उनको आनुश्रविक कहते हैं। इन दोनों प्रकार के विषयों से तृष्णारहित व्यक्ति की जो वशीकार अनुभूति है, वह वैराग्य कहाती है। इस अवस्था में लौकिक सुख और सुख-साधनों तथा दुःख और दुःख-साधनों में राग-द्वेष नहीं रहता। वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए सांसारिक सुखों में चार प्रकार के दुःख का अनुभव करना अनिवार्य है। प्रत्येक सांसारिक सुख में परिणाम दुःख, तापदुःख, संस्कार-दुःख और गुणवृत्ति-विरोध दुःख मिश्रित रहता है। जब व्यक्ति सभी सांसारिक सुखों में इन चारों प्रकार के दुःखों को बार-बार अनुभव करता है, तो उसको वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस वैराग्य का परिणाम है ईश्वरोपासना में रुचि।

परवैराग्य का स्वरूप

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् (योग० १ । १६)

ईश्वर के स्वरूप का परिज्ञान होने से सत्त्वादि गुणमात्र में तृष्णा का न रहना उत्कृष्ट=ऊंचा वैराग्य है। जब साधक सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते-करते ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसमें परमात्मा को

जानने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। जब परमात्मा की अनुभूति होती है तो सम्प्रज्ञात समाधि और उससे प्राप्त सुख तथा ज्ञान से भी वैराग्य हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि में सत्त्वगुण प्रधान होता है। जब योगी उस सत्त्वगुण प्रधान अवस्था में भी दोष देखता है, उससे भी वैराग्य हो जाता है। यह परवैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि का साधन है और अपरवैराग्य सम्प्रज्ञात समाधि का साधन है।

प्रश्न–कुछ लोग बिना विवेक, वैराग्य और अभ्यास के योग की सिद्धि मानते हैं, क्या यह सत्य है ?

उत्तर–प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध होने से यह सत्य नहीं है। इस वर्तमानकाल में अनेक लोग योगाभ्यास करते और करवाते हैं, परन्तु विवेक, वैराग्य और अभ्यास को योग का साधन नहीं मानते। इनको साधन न मानने का परिणाम यह है कि लाखों योग के लिए प्रयत्न करने वालों में एक भी सच्चा योगी न मिलेगा। इसलिए विवेक, वैराग्य और अभ्यास को मुख्य साधन मानकर योग के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

ईश्वर-प्रणिधान

ईश्वर-प्रणिधानाद्वा (योग० १। २३)

ईश्वर की भक्ति विशेष से भी शीघ्र समाधि की सिद्धि होती है। **प्रणिधान का अर्थ है भक्ति-विशेष**। जब साधक ईश्वर के विशेष गुणों को जान जाता है तब अन्य पदार्थों का आकर्षण हटकर ईश्वर में विशेष प्रेम हो जाता है। इस अवस्था में उसको पात्र समझकर संकल्पमात्र से ईश्वर अपना लेता है और ईश्वर की सहायता से समाधि की सिद्धि हो जाती है। योग० २। १ सूत्र के व्यासभाष्य में ईश्वर प्रणिधान का यह अर्थ किया है-"**सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा**" समस्त क्रियाओं को परमगुरु परमात्मा के समर्पण कर देना और उनके लौकिक फल की इच्छा न रखना **ईश्वर-प्रणिधान** है।

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर-प्रणिधान की सिद्धि ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना नहीं हो सकती। इसलिए पतञ्जलि जी ने ईश्वर का लक्षण किया है-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

(योग० १ । २४)

अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभकर्म, उन कर्मों का फल, फलभोग से बने हुए संस्कार, इन सबसे जो सर्वथा सदा रहित है, वह पुरुष-विशेष ईश्वर है। ईश्वर के इस लक्षण से सभी शरीरधारी-ईश्वरों का खण्डन हो जाता है। क्योंकि शरीरधारी व्यक्ति क्लेशों से रहित नहीं हो सकता। जो लोग ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते, उनके मत का खण्डन भी इसी सूत्र से हो जाता है। जो जीव को ही ईश्वर मानते हैं, उनकी मान्यता भी समाप्त हो जाती है। जो लोग ईश्वर और जीव को एक मानते हैं, उनका मत भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। क्योंकि पुरुषविशेष ईश्वर है, सब जीव ईश्वर नहीं हैं। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि ईश्वर को सूत्रकार ने कर्मरहित कहा है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ईश्वर कोई कार्य नहीं करता। इसका तात्पर्य है कि जैसे जीव शुभाशुभ कर्म करता है वैसे ईश्वर नहीं करता। ईश्वर केवल शुभ कर्म ही करता है, अशुभ नहीं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना, जीवों के कर्मानुसार फल देना, ये सब कर्म ईश्वर के हैं। जो लोग ईश्वर को कर्म-रहित मानते हैं वे ईश्वर के स्वरूप को नहीं समझते।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (योग० १ । २५)

उस ईश्वर में अतिशयरहित=जिससे बढ़कर और नहीं हो सकता, वह सर्वज्ञता का कारण है। जो भी तीनों कालों में ज्ञान है वह सब ईश्वर में विद्यमान है। ईश्वर के तुल्य न कोई दूसरा विद्वान् हुआ, न है और न होगा।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योग० १ । २६)

ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है, क्योंकि काल से कभी उसका नाश नहीं होता। ऋषि, महर्षि, बड़े-बड़े वैज्ञानिक काल से समाप्त हो जाते हैं। अर्थात् जिस शरीर के आधार पर वे विद्या पढ़ते पढ़ाते हैं, वह शरीर नष्ट हो जाता है। अतः शरीर के नष्ट होने पर वे किसी को विद्या नहीं पढ़ा सकते। जब तक शरीर है, तब तक विद्या पढ़ाकर गुरु बनने में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं। परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ है, अतः उसको शरीर की आवश्यकता नहीं है। इसलिए वह सभी कालों में सबका गुरु बनने में समर्थ

है। ईश्वर की सहायता से जीव दूसरों को विद्या पढ़ाने में समर्थ होता है,

अन्यथा नहीं। ईश्वर को न समझने के कारण कुछ लोग यह मानते हैं कि जीव अपने आप विद्वान् बन जाता है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि ईश्वर से गुरु बड़ा होता है। इस मान्यता का कारण भी ईश्वर को न समझना ही है। वास्तविकता तो यह है कि समस्त गुरुओं, विद्वानों, ऋषियों का ज्ञान ईश्वर के ज्ञान के समक्ष नाममात्र है। जितने भी गुरु हैं वे ईश्वरोक्त वेद का ज्ञान प्राप्त कर और उसके बनाये शरीर, इन्द्रियों से सहायता लेकर ही किसी शिष्य को विद्या पढ़ाने में सफल होते हैं। इसलिए यह मान्यता ठीक नहीं है कि गुरु परमात्मा से बड़ा होता है।

प्रश्न–ईश्वर क्या कोई वस्तु है ?

उत्तर–हाँ! ईश्वर वस्तु है। जिस प्रकार से भूमि आदि वस्तुएँ हैं वैसे ही ईश्वर भी एक सत्तावान् पदार्थ है। इतना अन्तर है कि भूमि आदि वस्तुएँ अनेक अवयवों के सम्मेलन से उत्पन्न होती हैं, ईश्वर कभी उत्पन्न नहीं होता। यह आवश्यक नहीं कि जिसमें रंग, आकृति, भार, लम्बाई आदि हों वही वस्तु होती है, किन्तु जिसमें ज्ञान, आनन्द, बलादि हों वह भी वस्तु होती है। इसमें प्रमाण है- ऋषि दयानन्द ने आर्योद्देश्यरत्नमाला के प्रथम रत्न में लिखा है-"**जो केवल चेतन वस्तु है**"। सत्यार्थप्रकाश के स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाश में ऋषि दयानन्द ने लिखा है "**अनादि पदार्थ तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति**"। यहाँ पर ईश्वर को पदार्थ माना है। वस्तु व पदार्थ अथवा चीज मानकर ही ईश्वर-प्रणिधान की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। कुछ लोग ईश्वर को शरीरधारी मानकर उसकी भक्ति करते हैं। कुछ लोग उसे किसी विशेष स्थान पर मानकर उसकी भक्ति करते हैं। कुछ लोग उसको सर्वव्यापक मानकर उसकी भक्ति करते हैं परन्तु उसको वस्तु वा पदार्थ नहीं मानते। इस प्रकार से ईश्वर के स्वरूप को ठीक न समझकर भक्ति करने वाले करोड़ों लोग विफल हो रहे हैं। यदि ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को समझकर संसार के लोग उसकी भक्ति करते तो अज्ञान, अन्याय, दुःख की प्रवृद्धि न होती।

✤ ✤ ✤ ✤ ✤

ईश्वर का वाचक

तस्य वाचकः प्रणवः (योग० १ । २७)

उस ईश्वर का वाचक=कहने वाला प्रणव=ओम् है। ईश्वर एकसत्तात्मक वस्तु है और उसका वाचक शब्द **'ओ३म्'** है। जब साधक ईश्वर के स्वरूप और उसके नाम को ठीक प्रकार से जान लेता है, तो उसको योगमार्ग में सफलता मिलती है। महर्षि पतञ्जलि ने प्रथम ईश्वर का स्वरूप बताया और इस सूत्र में उसका नाम। ईश्वरप्रणिधान में नाम और नामी=वाचक और वाच्य का परिज्ञान अवश्य ही होना चाहिये। जिस नाम से ईश्वर का व्यवहार करते हैं वह नाम ईश्वर के स्वरूप को कहने वाला होना चाहिये। कुछ लोग ईश्वर के नाम का स्मरण करते हैं, परन्तु उस नाम का अर्थ नहीं जानते। यदि जानते हैं तो ईश्वर के स्वभाव से विपरीत जानते हैं। जो लोग ईश्वर के नाम का अर्थ भी जानते हैं, परन्तु वे यह कहते हैं कि जप करते समय मन इधर-उधर चला जाता है। यदि जप करते हैं तो अर्थ मन में नहीं रहता और अर्थ को मन में रखते हैं तो जप नहीं होता। इन समस्त समस्याओं का समाधान यही है कि ईश्वर का स्वरूप और उसका नाम इन दोनों का ज्ञान परिपक्व होना चाहिये। जब ज्ञान परिपक्व हो जाता है तो जप करते हुये अर्थ को मन में रखने में कोई बाधा नहीं होती।

जप करने की विधि

तज्जपस्तदर्थभावनम् (योग० १ । २८)

उस प्रणव= ओम् का जप करना चाहिये और प्रणव का जो अर्थ=ईश्वर, उसका मन में विचार करना चाहिये। जैसे ईश्वर सर्वरक्षक है, यह मन में रखना चाहिये। जप करने से पूर्व जैसा योगदर्शन में, यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के ८ वें मन्त्र में-**"स पर्य्यगात्०"** और आर्यसमाज के दूसरे नियम में-**"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप०"** ईश्वर का स्वरूप बतलाया है, उसको अच्छे प्रकार से समझकर पुनः **ओम्** का जप करना चाहिये। प्रारम्भ में वाणी से बोलकर जप करने से सुविधा रहती है। जब जप का दृढ़ अभ्यास हो जाता है तो मन से जप करने में कोई कठिनाई नहीं होती। अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर मन से जप करना उत्तम है। जैसे वाणी से बोलकर ओम् का जप किया जाता है, वैसे ही मन से बोलकर अर्थ सहित जप करना चाहिये। जब ओम्

का मन में उच्चारण किया जाय, तो उसके साथ-साथ जो ओम् का अर्थ है, उसको मन में रखना पड़ता है। अर्थसहित जप करने से मन वश में आता है, और ईश्वर में प्रेम दृढ़ होता है। जैसे नीम्बू-नीम्बू कहने से मुख में पानी भर आता है वैसे ही अर्थ सहित जप करने से ईश्वर के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है।

एक प्रश्न उठता है कि नीम्बू को तो प्रत्यक्ष रूप से खाकर देखते हैं, पर ईश्वर का आनन्द तो प्रत्यक्ष देखा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि सत्यवादी, सत्यमानी, सत्याचारी योगियों ने ईश्वर के आनन्द का अनुभव करके यह बतलाया है कि ईश्वर आनन्द का भण्डार है। उनकी बात को सत्य मानकर जप करना चाहिये। जब ऋषियों की बात को पूर्ण सत्य मानकर जप किया जाता है तो मन में ईश्वर के प्रति लहर उठ आती है। इस अवस्था में बाहर के विषय मन को आकृष्ट नहीं करते। इसलिये वेद, उपनिषद्, दर्शनों में जैसा ईश्वर का स्वरूप है, उस पर पूर्ण विश्वास करके जप करने से सफलता मिलती है, अन्यथा नहीं। प्रायः साधक लोग यही कहते है कि मन वश में नहीं होता। मन के वश में न आने का एक विशेष कारण यह है कि ईश्वर के सच्चे स्वरूप को न समझना। कुछ लोग यह कहते हैं कि जब जप करते हैं तो मन में अर्थ नहीं रहता और जब अर्थ करते हैं तो जप बन्द हो जाता है। इसका कारण यह है कि जप करने वाले का ज्ञान और अभ्यास दोनों ही निर्बल है। जब ये दोनों दृढ़ हो जाते हैं तो जप के साथ अर्थ करने में कोई कठिनाई नहीं होती। बिना अर्थ के जप करने में कोई विशेष लाभ नहीं होता। व्यावहारिक जीवन में यम-नियमादि का पालन किये बिना जप में सफलता नहीं मिलती है। कुछ लोग सहस्रों की संख्या में जप करते हैं। उनको अर्थ समझ में नहीं आता। न वे यम-नियम का पालन करते हैं। इस प्रकार के जप से ज्ञान, बल, आनन्द मिलने की सम्भावना नहीं है।

जप करने में इस कठिनाई का अनुभव सब करते हैं कि मन वश में नहीं रहता। इस समस्या का समाधान यह है कि जप करने वाला व्यक्ति यह समझे कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, ये सब जड़ वस्तुएँ हैं, इनको मैं चलाता हूँ। जब मनुष्य मनादि को चेतन मान लेता है तो पुनः मन को वश में नहीं कर सकता। इसलिये बार-बार इस बात का अभ्यास करना चाहिए कि मन

जड़ है, वह मेरी प्रेरणा के बिना बुरा वा अच्छा कुछ भी नहीं कर सकना। इस प्रकार के अभ्यास से मन का जीतना सरल हो जाता है। मन जड़ है। मन के जड़ होने में प्रमाण **"वैसे ही मन भी जड़ है"** (सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास) **"पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति"** (योग० २। ५ पर व्यासभाष्य) या जीव के उपकरण अचेतन=जड़ मन में आत्मज्ञान होना अविद्या है। जप करने में यह भी कठिनाई होती है कि जब अभ्यासी जप करता हुआ अपने आपको ईश्वरार्पण करता है तब अपनी त्रुटियों के कारण उसको ईश्वर से डर लगता है। जब ईश्वर से डर लगता तो वह ईश्वर से दूर भागने का प्रयत्न करता है। परन्तु योगाभ्यासी को जब यह बात समझ में आ जाती है कि ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सबका हितैषी है तो यह उलझन दूर हो जाती है।

जप करने वाले का यह भी मुख्य कर्त्तव्य है कि जप प्रारम्भ करने से पूर्व ईश्वर, जीव, प्रकृति और विकृति=प्रकृति से बनी हुई वस्तुएँ, इन सबके स्वरूप का गम्भीरता से विचार करे। समस्त वस्तुओं को तीन भागों में विभाजित कर लेवे। एक साध्य, दूसरा साधक, तीसरा साधन। ईश्वर साध्य=प्राप्त करने योग्य है। जीव साधक=प्राप्त करने वाला है। प्रकृति=जिस सामग्री से यह संसार बना है वह साधन है। विचारकाल में स्वयं को ईश्वर के समक्ष रखने का पूर्ण प्रयास करे। स्वयं को ईश्वर के सामने उसी प्रकार से उपस्थित करे, जिस प्रकार से माता पिता के सामने एक बुद्धिमान्, धार्मिक बालक अपने आपको उपस्थित करता है। समस्त पदार्थों का स्वामी ईश्वर को जाने। योगाभ्यास के समय में साधक ईश्वर-साक्षात्कार के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की इच्छा मन में न रखे। इस प्रकार से विधिपूर्वक जप करने से मनुष्य कृत-कृत्य हो जाता है। विधिपूर्वक जप न करने से और विधि-विरुद्ध जप करने से मानव-जीवन विफल हो जाता है। इसलिए नियमपूर्वक, विधि-अनुसार जप करना प्रत्येक मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। जो व्यक्ति जप नहीं करता, वह महान् दोषी है। जप न करने से समस्त दुःखों की निवृत्ति और पूर्णानन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

✤ ✤ ✤ ✤ ✤

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (योग० १ । २८)

विधिपूर्वक जप करने से ईश्वर का साक्षात्कार होता और व्याधि आदि नव अन्तरायों का अभाव हो जाता है। ईश्वर-साक्षात्कार के समय पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है और समस्त क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है और समाधि के भङ्ग होने पर पुनः क्लेशों का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है।

अन्तरायों का स्वरूप

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानव-स्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः (योग० १ । ३०)

वात, पित्त, कफ, धातु, आहार से उत्पन्न रस और इन्द्रियों की विषमता **व्याधि** है। योगसाधनों में अरुचि **स्त्यान** है। ईश्वर के विषय में यह समझना कि जिस ईश्वर को मैं जानने के लिये प्रयत्न कर रहा हूँ, पता नहीं वह है या नहीं है **संशय** है। समाधिसाधनों का न करना, उनकी उपेक्षा कर देना **प्रमाद** है। शरीर और मन में भारीपन होने से योगाभ्यास को छोड़ देना **आलस्य** है। वैराग्य का अभाव=विषय-भोगों में रुचि **अविरति** है। जड़ को चेतन और चेतन को जड़ समझना **भ्रान्तिदर्शन** है। जैसे मूर्ति को चेतन समझकर नमस्ते करना, इत्यादि। समाधि की प्राप्ति न होना **अलब्धभूमिकत्व** है। समाधि की प्राप्ति होने पर उसका स्थिर न रहना **अनवस्थितत्व** है। ये योग के अन्तराय=बाधक हैं। जब योगाभ्यासी विधिपूर्वक ईश्वर-प्रणिधान करता है तो इन विघ्नों का अभाव हो जाता है।

उपविघ्नों का स्वरूप

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः।

(योग० १ । ३१)

जिससे पीड़ित हुए प्राणी उसके विनाश के लिए प्रयत्न करते हैं, वह **दुःख** कहाता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, तीन प्रकार के दुःख हैं। इच्छा की पूर्ति न होने से मन का क्षोभ=अप्रसन्नता **दौर्मनस्य** है। जो अंगों को कम्पाता है वह **अङ्गमेजयत्व** है। श्वास-प्रश्वास का अपनी इच्छा के विरुद्ध चलना=अनियंत्रण में रहना, ये उपविघ्न विक्षेपों की विद्यमानता में रहते हैं और उनके अभाव में इनका भी अभाव हो जाता है।

योग-विघ्नों के दूर करने का उपाय

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः (योग० १ । ३२)

उन विघ्नों को हटाने के लिए बार-बार ईश्वर, जो कि एकतत्त्व है, जिसमें दूसरी किसी भी वस्तु का मिश्रण नहीं है, उसी की उपासना करनी चाहिये। इन विघ्नों को दूर करने का और कोई भी उपाय नहीं है। इस सूत्र में पठित **एकतत्त्व** शब्द से ऋषि दयानन्द ने ईश्वर का ग्रहण किया है। कुछ टीकाकारों ने **एकतत्त्व से कोई एक जड़तत्त्व** का ग्रहण किया है। वास्तव में एकतत्त्व से ईश्वर का ग्रहण करना ही उचित है। क्योंकि इन विघ्नों को दूर करने का सामर्थ्य केवल ईश्वर में ही है, अन्य किसी जड़तत्त्व में नहीं। एकतत्त्व से ईश्वर के ग्रहण में यह भी कारण है कि ईश्वर-प्रणिधान का प्रकरण चल रहा है, उसका यहाँ पर उपसंहार है। ३०वें सूत्र में जप से ईश्वर का साक्षात्कार बतलाना मुख्य था और इस सूत्र में ईश्वरोपासना से विघ्नों को दूर करने का उपाय बतलाना मुख्य है। इसलिए एकतत्त्व से ईश्वर का ग्रहण करना चाहिये, किसी जड़तत्त्व का नहीं।

योगाभ्यासी का व्यवहार

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् (योग० १ । ३३)

योगी सुखयुक्त प्राणियों के साथ मित्रता रखे, दुःखियों पर दया करे, पुण्यात्माओं में हर्ष रक्खे और अपुण्यात्माओ में उपेक्षा=न मित्रता और न द्वेष करे। इस प्रकार का व्यवहार करने से चित्त प्रसन्न होता है और प्रसन्न होने से एकाग्र हो जाता है। सूत्र में कहा है कि सुखियों के साथ मित्रता रक्खे। यह इसलिए है कि जब मनुष्य किसी को सुख-सम्पन्न देखता है तो द्वेष उत्पन्न हो जाता है, उससे मन अप्रसन्न हो जाता है। और अप्रसन्न होने से चित्त में चञ्चलता आ जाती है। इसीलिए सुख-सम्पन्न प्राणियों को देखकर प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए। महात्माओं को देखकर भी ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है, उससे बचने के लिए हर्ष का अनुभव करना चाहिए। दुःखियों को देखकर उनको सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि परोपकार करने से मन में ईर्ष्या, घृणा और उपेक्षा उत्पन्न नहीं होती। अपुण्यात्माओं के साथ मित्रता रखने में भी हानि और द्वेष रखने में भी हानि

होती है । अतः उनमें उपेक्षा करनी चाहिए । जैसा सूत्रकार ने बतलाया है, वैसा ही योगाभ्यासी का व्यवहार होना चाहिए । अन्यथा योगमार्ग में सफलता नहीं मिल सकती ।

प्राणायाम से मन की एकाग्रता

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (योग० १ । ३४)

इस सूत्र का अर्थ ऋ० भू० के उपासना विषय में महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार किया है-"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकालके सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे । पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे । इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है । इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए । जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिए ।" इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि जो चार प्रकार का प्राणायाम योगदर्शन में बतलाया है उसको विधिपूर्वक करने से चित्त एकाग्र होता है । प्राणायाम का स्वरूप, उसको करने की विधि और लाभ आगे बताये जायेंगे ।

योगदर्शन के समाधि पाद में से योग की परिभाषा, उसके भेद, योग का लाभ, वृत्तियों का स्वरूप, उनको रोकने के उपाय, योग के मार्ग में आने वाले विघ्न और उनको दूर करने के उपाय, जप करने की विधि और उसका फल, योगाभ्यासी का व्यवहार इत्यादि विषयों को समझाने का यहाँ प्रयास किया गया है । आशा है कि बुद्धिमान्, योग-जिज्ञासु इससे लाभ उठायेंगे ।

अब योग-दर्शन के साधन पाद का विषय प्रारम्भ किया जाता है । इस पाद में अनेक विषयों का वर्णन किया गया है । परन्तु योगसाधनों का विशेष रूप से वर्णन किया है । अतः इस पाद का नाम साधन-पाद है ।

प्रत्येक प्राणी समस्त दुःखों से छूटकर पूर्ण स्थायी सुख को प्राप्त करना चाहता है । परन्तु जब तक व्यक्ति को यह ज्ञान न हो कि सुख क्या है, सुख

के साधन क्या हैं, दुःख क्या है और दुःख के साधन क्या हैं, तब तक दुःखों से छूटकर वास्तविक सुख को प्राप्त नहीं हो सकता । महर्षि पतञ्जलि जी ने बताया है कि दुःखों से छूटने और सुख को प्राप्त करने के लिए चार विषयों का जानना अत्यन्त आवश्यक है । वे चार विषय ये हैं-(१) हेय (२) हेयहेतु (३) हान और (४) हानोपाय अर्थात् दुःख और दुःख का कारण, सुख और सुख का कारण ।

दुःख की परिभाषा-"येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्" (योग० १ । ३१ पर व्यासभाष्य)

जिससे पीड़ित हुए प्राणी उसके विनाश के लिए प्रयत्न करते हैं, वह दुःख है । **बाधना लक्षणं दुःखम्** (न्याय० अ० १ । आ० १ सूत्र २१) बाधा, पीड़ा, कष्ट, बन्धन ये दुःख के पर्यायवाची हैं । महर्षि पतञ्जलि ने यहाँ बतलाया है कि संसार में पांच प्रकार के दुःख हैं । जिनसे प्रत्येक प्राणी सन्तप्त रहता है । वे अविद्यादि पांच क्लेश ये हैं-**अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः** (योग० २।३) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । अनित्य वस्तु को नित्य, नित्य को अनित्य, अशुद्ध को शुद्ध और शुद्ध को अशुद्ध, दुःख को सुख और सुख को दुःख, जड़ को चेतन और चेतन को जड़ समझना **अविद्या** है । बुद्धि, इन्द्रियों तथा शरीर को जीव से भिन्न न जानना अस्मिता है । अनुभव किये हुये सुख और सुख के साधनों की पुनः प्राप्त करने की इच्छा राग है । अनुभव किये हुये दुःख और दुःख के साधनों से घृणा द्वेष है । मृत्यु का भय अभिनिवेश है ।

इस पांच प्रकार के दुःख को महर्षि पतञ्जलि जी ने हेय=त्याज्य बतलाया है । **हेयं दुःखमनागतम्** (योग० २ । १६) जो आने वाला दुःख है, वह छोड़ने योग्य है । जो दुःख भोगा जा चुका है, वह छोड़ा नहीं जा सकता । जो वर्त्तमान काल में भोगा जा रहा है, उसको दूर करने के लिए जब तक दूर करने का उपाय किया जायेगा तब तक वह अतीत में चला जायेगा । इसलिए अगले क्षण में आने वाला दुःख छोड़ने योग्य है । यहाँ पर क्षण को लेकर ही भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् काल को देखना चाहिये । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वर्तमान काल में ज्वर आ जाय, तो वह दूर करने योग्य नहीं है । जिस क्षण में ज्वर को दूर करने के लिए उपाय किया जायेगा, उस क्षण का दुःख भोग लिया जायेगा । और आने वाले

क्षण के दुःख को दूर करने के लिए ज्वर को दूर करने के उपायों का प्रयोग करना चाहिए।

दुःख का कारण

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः (योग० २ । १७)

द्रष्टा जीव को कहते हैं और प्रकाश, क्रिया, स्थिति स्वभाव वाला, भूत और इन्द्रियस्वरूप तथा भोग और अपवर्ग=मोक्ष को सिद्ध कराने वाला दृश्य है। अर्थात् सत्त्व, रज, तम से बनी सभी वस्तुयें दृश्य हैं। जीव का और दृश्य का जो संयोग स्व-स्वामी सम्बन्ध है, वह दुःख का कारण है। अज्ञानता के कारण व्यक्ति यह समझता है कि मैं जितनी अधिक वस्तुओं का स्वामी बनूंगा, उतना ही मुझे अधिक सुख मिलेगा। इसका परिणाम ठीक उसके विपरीत निकलता है। और जैसे-जैसे व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं का स्वामी बनता जाता है, वैसे-वैसे उसके दुःख की प्रवृद्धि होती जाती है। और जैसे-जैसे इन वस्तुओं का स्वामी ईश्वर को समझकर इनकी प्राप्ति, रक्षा और उचित प्रयोग करता है, वैसे-वैसे सुख की प्रवृद्धि होती है। वास्तविक ज्ञान के न होने से मनुष्य यह समझता है कि मैं इन वस्तुओं को ईश्वर की मान लूंगा, तो मेरा सर्वनाश हो जायेगा। वास्तव में यह मिथ्या धारणा है, क्योंकि पक्षपात-रहित विद्वानों ने स्व-स्वामी सम्बन्ध को दुःख का कारण बतलाया है। इसलिए हानि होने की कोई सम्भावना नहीं है। संसार में लड़ाई, झगड़े, पक्षपातादि अनेक दोषों का कारण स्व-स्वामी सम्बन्ध है। यदि संसार में स्व-स्वामी सम्बन्ध को न मानने वालों की संख्या अधिक हो जाय, तो लौकिक सुख और आध्यात्मिक सुख दोनों की प्रवृद्धि हो जाय।

प्रश्न-यदि सभी वस्तुओं को ईश्वर की मान लिया जाय, तो व्यवहार कैसे चलेगा?

उत्तर-व्यवहार में कोई भी उलझन उत्पन्न नहीं होगी। जो वस्तु जिसको न्यायपूर्वक प्राप्त हो, वह उसकी रक्षा, प्रवृद्धि तथा अपने और दूसरों के सुख के लिए उसका प्रयोग करे। स्वयं को उस वस्तु के प्रयोग का अधिकारी समझे। सभी वस्तुओं का आदिमूल परमेश्वर है। और मनुष्य न्याय से प्राप्त वस्तुओं के उचित प्रयोग का अधिकारी है। ऐसा करने से कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होगी। इसकी पुष्टि आर्यसमाज के प्रथम नियम से भी होती है। यथा-"सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं,

उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।" सब वास्तविक ज्ञान और जो वस्तुयें प्रकृति से उत्पन्न हुई हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है। जब प्रकृति से बनने वाली सब वस्तुओं का निमित्त कारण ईश्वर है, तो उसको सब वस्तुओं का स्वामी मानना उचित है।

स्व-स्वामी सम्बन्ध का कारण-तस्य हेतुरविद्या (योग० २। २४)

उस स्व-स्वामी सम्बन्ध का कारण अविद्या है। जब मनुष्य अविद्याग्रस्त होता है, तो वह स्व-स्वामी सम्बन्ध को बना लेता है। जन्म-जन्मान्तर की स्व-स्वामी सम्बन्ध की वासनायें अत्यन्त दृढ होती हैं। वे वासनायें मनुष्य के अन्दर अज्ञान को उत्पन्न करती रहती हैं। इन वासनाओं के कारण व्यक्ति स्व-स्वामी सम्बन्ध को बनाये रखने के लिए महान् प्रयत्न करता है। किन्तु जब सत्यज्ञान की उत्पत्ति होती है, तो वह स्व-स्वामी सम्बन्ध बन्धन का कारण दिखाई देता है। इसलिए इस स्व-स्वामी सम्बन्ध को हटाने के लिए अविद्या का नाश करना चाहिए। अविद्या को उत्पन्न करने वाले कुसंस्कार हैं। उन कुसंस्कारों को हटाये बिना अविद्या को नहीं हटाया जा सकता।

अब प्रश्न उठता है कि अविद्या का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है-**इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या** (वैशे० ९।२।१०)। इन्द्रियों और संस्कारों के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है। इसलिये अविद्या को हटाने के लिए इन्द्रिय-दोष और संस्कार दोष को दूर करना चाहिये। जब इन्द्रिय-दोष हट जायेगा तो अविद्या भी हट जायेगी। जब अविद्या हट जायेगी, तो स्व-स्वामी सम्बन्ध भी हट जायेगा। और स्व-स्वामी सम्बन्ध के हटने से दुःख की निवृत्ति और आनन्द की उपलब्धि होगी। इसलिये महर्षि पतञ्जलि ने कहा कि अविद्या का अभाव होने से संयोग का अभाव हो जाता है और संयोग के अभाव होने पर जीव का मोक्ष हो जाता है।

मोक्ष का उपाय-विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः (योग० २। २६) जो विचलित न होने वाली विवेकख्याति है, वह मोक्षप्राप्ति का उपाय है। ईश्वर, जीव और प्रकृति तथा प्रकृति से उत्पन्न वस्तुओं का जो स्वरूप ज्ञान है, वह विवेकख्याति कहलाती है। परन्तु वह विवेकख्याति भी न डिगनेवाली हो, वही मोक्ष का उपाय है।

विवेकख्याति का उपाय-योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः (योग० २। २८) योग के यमादि अंगों का अनुष्ठान करने

से अशुद्धि (अविद्या) का नाश होने पर ज्ञान का विकास विवेकख्याति तक होता है ।

योग के आठ अंग–यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि (योग० २ । २९)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं । इन्हीं के अनुसार चलने से मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है, अन्यथा नहीं । कुछ लोगों की यह मान्यता है कि योगी बनने के लिये यम-नियमादि का पालन करना आवश्यक नहीं है । क्योंकि जो पतञ्जलि जी ने यम-नियमादि योग के साधन लिखे हैं, उनसे भिन्न भी योग के साधन हो सकते हैं । प्रश्न उठता है कि जो यम-नियमादि से भिन्न योग के साधन हैं, वे यम-नियमादि के अनुकूल हैं वा विरुद्ध हैं ? यदि अनुकूल हैं तो केवल शब्दों में ही भेद है, अर्थों में नहीं । और यदि प्रतिकूल=विरुद्ध हैं तो अहिंसा के स्थान में हिंसा करना, सत्य के स्थान में असत्याचरण, चोरी-त्याग के स्थान में चोरी करना, ब्रह्मचर्य के स्थान में व्यभिचार करना, इस प्रकार सभी आठ अंगों के विपरीत आचरण करना ही योग की प्राप्ति का साधन मानना पड़ेगा । इस प्रकार के आचरण से योगी बनना संभव नहीं है ।

कुछ लोग भोले-भाले मनुष्यों को ठगने के लिए उनकी रुचि के अनुसार बात बतलाते हैं । प्रायः मनुष्य की रुचि पांच इन्द्रियों के विषय-सेवन में रहती है । जब कोई बात इन्द्रियों के विषय-सेवन की कही जाती है, तो उसको अच्छी लगती है । और जब इन्द्रियों के संयम के लिए कही जाती है, तो वह सुनना नहीं चाहता । यही कारण है कि लाखों लोगों को योग के नाम से भोगों में फंसाया ज़ा रहा है । कुछ लोग कहते हैं कि हमने योग की सरलतम नवीन पद्धति निकाली है । इस हमारी नवीन पद्धति में न खान-पान का नियम है, न आचार-विचार का नियम है, न चोरी-जारी छोड़ने की आवश्यकता है, न झूठ-छल का परित्याग करना पड़ता है । जो भी कुछ करना चाहे, कर सकता है, योगी बनने में कोई भी बाधा नहीं होती । इस प्रकार सच्चे योगमार्ग से हटाकर मानव-जाति को विपरीत मार्ग पर आरूढ कर दिया है । इन नवीन योगमार्गियों के जाल से बचकर पातञ्जल योग-मार्ग पर चलना-चलाना चाहिये ।

योग का प्रथमाङ्ग- अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । (योग० २ । ३०) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पांचों मिलकर योग का प्रथमाङ्ग हैं । सब प्रकार सब काल में सब प्राणियों के साथ वैरभाव को त्यागकर प्रेम से वर्तना **अहिंसा** है । केवल वैर को छोड़ने का नाम अहिंसा नहीं है । वैर को छोड़कर हिंसा को न रोकना भी अहिंसा नहीं है । इसी प्रकार से सभी यमों के विषय में समझना चाहिये । जैसे कि एक व्यक्ति असत्य नहीं बोलता । परन्तु जब सत्य बोलने की अत्यन्त आवश्यकता होती है, तब सत्य भी नहीं बोलता है । ऐसे मनुष्य को सत्यवक्ता नहीं कह सकते । सत्य का लक्षण यह है कि-**यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति** (योग० २।३० पर व्यासभाष्य) । जैसा प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा हो और अनुमान से जाना हो तथा कानों से सुना हो, वैसा मन और वाणी में होना सत्य कहाता है । ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में सत्य की परिभाषा लिखी है-"किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है" । इससे यह सिद्ध होता है कि प्रथम वस्तु के स्वरूप को जानना, पुनः मानना, उसके पश्चात् सत्य, मधुर, हितकारी और जितनी आवश्यकता हो उतना बोलना, न न्यून न अधिक और यदि सत्य से लाभ न उठाने वाला कोई अपात्र सामने आ जाय, तो मौन रहना तथा वाणी के अनुसार कर्म भी करना सत्य का वास्तविक स्वरूप है ।

प्रश्न-एक व्यक्ति जिसको सत्य कहता है, दूसरा उसी को असत्य कहता है, तो सत्यासत्य का निर्णय कैसे हो ?

उत्तर-सत्यासत्य के जानने के लिये ऋषि-दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में पांच कसौटियाँ लिखी हैं, वे ये हैं-

(१) जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो, वह-वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य ।

(२) जो-जो सृष्टि के अनुकूल वह-वह सत्य और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है, वह सब असत्य है ।

(३) आप्त अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान् सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है, वह-वह ग्राह्य और जो-जो विरुद्ध है, वह-वह अग्राह्य है ।

(४) अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा कि अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी का दुःख वा सुख दूँगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।

(५) आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। (स० प्र० ३ समु०)

मनु के शब्दों में सत्यासत्य-निर्णय के सोपान-

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।। (मनु० २।१२)

न्याय-दर्शन के प्रणेता महर्षि गोतम ने सत्यासत्य के निर्णयार्थ निम्न उपाय लिखा है-

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रति-पक्षप्रतिग्रहो वादः (न्याय० १ । २ । १)

इन उपायों से सत्यासत्य का निर्णय किया जा सकता है। जब तक मनुष्य सत्यासत्य को जानने के उपायों को नहीं जानता तब तक सत्य के स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं समझ सकता। और सत्यासत्य को ठीक जाने बिना उचित प्रकार से प्रयोग नहीं कर सकता। सत्य का प्रयोग ठीक न होने से योग की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार से अन्य यम-नियमादि के विषय में भी समझना चाहिये। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि मनुष्य असत्य क्यों बोलता है? इसका मूल कारण यह है कि असत्य-भाषण करने वाला यह मानता है कि इससे लाभ होता है। अपनी हानि करने के लिए कोई भी मनुष्य असत्य नहीं बोलता। वास्तव में असत्य भाषण करने से लाभ कभी भी नहीं होता। जो लाभ प्रतीत होता है, वह लाभाभास है। उपनिषत्कार ने कहा है कि "**सत्यमेव जयते नानृतम्**" (मुण्डकोप० ३।१।६) सदा सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं। किसी कार्य में जीत और हार का पता अन्तिम परिणाम पर चलता है। अन्तिम परिणाम दुःख का ह्रास और सुख की वृद्धि है, तो वही जीत कहाती है। यदि सुख की हानि और दुःख की वृद्धि है तो वह हार कहाती है। सत्य का ठीक प्रयोग करने से सुख की वृद्धि और दुःख का नाश होता है। अतः सत्य की जीत मानी जाती है।

शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध किसी दूसरे की वस्तु ले लेना स्तेय=चोरी है और उसका परित्याग कर देना अस्तेय है। मन, वाणी और शरीर से चोरी का परित्याग करना आवश्यक है। शरीर से चोरी छोड़ना सरल है, परन्तु मन से छोड़ना कठिन है। केवल चोरी छोड़ देना ही अस्तेय नहीं है। किन्तु तन, मन, धन से दूसरों को सहयोग देना भी अस्तेय में आ जाता है। एक व्यक्ति चोरी तो नहीं करता, परन्तु किसी पात्र को दान भी नहीं देता, यह अस्तेय का पालन नहीं है। मन तथा इन्द्रियों को वश में कर वीर्य की रक्षा, ईश्वरोपासना और वेदों का पढ़ना ब्रह्मचर्य है। वस्तुओं का उपार्जन, रक्षण, क्षय, संग, हिंसा-दोषों को देखकर आवश्यकता से अधिक ग्रहण करने की अनिच्छा और स्वत्वाभिमान से पृथक् होना अपरिग्रह है। जो वस्तुएँ और विचार ईश्वरसाक्षात्कार में बाधा करते हैं, उनका ग्रहण=परिग्रह और उनका परित्याग कर देना अपरिग्रह है। योग-सिद्धि के लिए इन यमों का पालन करना अनिवार्य है। ये योग की नींव है। जैसे बिना नींव के भवन खड़ा नहीं हो सकता, वैसे ही यमों के बिना योग सिद्ध नहीं होता।

यमों के पालन का प्रकार

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।।

(योग० २ । ३१)

जाति, देश, काल और समय इन सबसे भंग न किये जाने वाले सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य यम महाव्रत कहाते हैं। जैसे-

(१) जाति-कोई मछली मारने वाला कहे कि मैं केवल मछली को ही मारूंगा और किसी को नहीं।

(२) देश-जहाँ पर विद्या, धर्म का प्रचार होता है, वहाँ पर नहीं मारूंगा।

(३) काल-अमावस्यादि पर्व के दिन नहीं मारूंगा।

(४) समय-अमुक विशेष स्थिति में ही मारूंगा, इससे अतिरिक्त अवस्था में नहीं।

इस प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिये। इन यमों का पालन जाति, देश, काल और समय की सीमाओं से बांधा नहीं जा सकता। अतएव ये सार्वभौम महाव्रत कहाते हैं।

योग का दूसरा अंग–नियम

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (योग० २ । ३२)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये नियम हैं । शरीर, खानपान, स्थान, धनोपार्जनादि को शुद्ध रखना **बाह्य शुद्धि** है । असत्य, पर हानि आदि से मन को पृथक् रखना यह **आन्तरिक शुद्धि** है । यथाशक्ति उत्तम कर्मों को करना और जो उनका फल मिले उससे अधिक की इच्छा न करना **सन्तोष** है । हानि, लाभ, मानापमान, सुख, दुःख, शीतोष्णतादि बाधाओं के आने पर धर्माचरण को न छोड़ना **तप** है । मोक्ष–शास्त्रों का अध्ययन और प्रणव का जप करना **स्वाध्याय** है । परमगुरु परमात्मा में सर्व कर्मों को समर्पित करना तथा उन कर्मों का लौकिक फल न चाहना **ईश्वर–प्रणिधान** है । ये पांच नियम योग का दूसरा अंग हैं । योग–सिद्धि के लिए यमों की भांति इनका पालन करना भी आवश्यक है ।

यमों के पालन में बाधा और उसके दूर करने का उपाय

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् (योग० २ । ३३) वितर्कों के द्वारा बाधित होने पर साधक को प्रतिपक्ष भावना करनी चाहिए । प्रतिपक्ष भावना का अभिप्राय यह है कि यमनियमादि के भंग करने की इच्छा होने पर, उस विपरीत आचरण से होने वाले अनर्थों को जानकर मिथ्याचरण को न करना और उसका संकल्पपूर्वक विरोध कर देना । जब मनुष्य यह नियम बना लेता है, कि मैं इन यम–नियमों का पालन सब प्रकार से करूंगा, तब अशुभ संस्कार और कुसंग आदि के कारण मन में इन यम–नियमों को भंग करने की इच्छा उत्पन्न होती है । और अविद्या के कारण योगाभ्यासी यम–नियमों के विरुद्ध आचरण में लाभ समझता है । ऐसे संकट काल में साधक क्या करे ? यहाँ ऋषि ने बतलाया है कि हिंसादि वितर्क हैं अर्थात् अहिंसा के विपरीत हिंसा वितर्क है । सत्य के विपरीत असत्याचरण है । इसी प्रकार से सभी यम–नियमों के विपरीत आचरण वितर्क है । स्वयं हिंसा करना वा दूसरों से करवाना अथवा करने वाले का अनुमोदन करना । लोभ, क्रोध, मोह ये इन वितर्कों के कारण हैं । यम–नियमों के विपरीत आचरण अल्पमात्रा में होता है, मध्यमात्रा में होता है और अधिक मात्रा में होता है । इन वितर्कों का फल बहुत दुःख और बहुत अज्ञान की प्राप्ति होती है । इस प्रकार से इनके

आचरण से प्राप्त होने वाले अनर्थों पर विचार करके साधक यम-नियमों का भंग न करें और विपरीत विचारों का विरोध करे। जब-जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो, तब-तब इसी प्रकार करता जाय। ऐसा करने से विपरीत विचार रुक जाते हैं और योगाभ्यासी की जीत होती है।

अशुभ विचारों को दूर करने के लिए महान् प्रयास करना पड़ता है और महान् प्रयास करने पर भी अनेक बार विफलता हो जाती है। योगाभ्यासी को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि अहिंसादि व्रतों का पालन करने में यदि सफलता न मिले तो हताश न हो। हताश होने से हानि होती है, लाभ नहीं। प्रयत्न करते रहने से कभी न कभी सफलता अवश्य ही मिलती है। परन्तु बिना ज्ञान और वैराग्य के योगमार्ग में सफलता नहीं मिलती। केवल प्रयत्न करने से उन्नति नहीं होती। हां ज्ञानपूर्वक प्रयत्न करने से उन्नति होती है। इसलिये विवेक, वैराग्य और अभ्यास तीनों मिलकर योग-प्राप्ति के साधन हैं।

यम का फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः (योग० २। ३५)

(अहिंसा प्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन में वैरभाव छूट जाता है। किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है। (ऋ० भू० उपासना विषय)

यहां कुछ लोग यह मानते हैं कि अहिंसा की सिद्धि होने पर योगी के प्रति समस्त प्राणी वैरभाव को छोड़ देते हैं। वास्तव में यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से इसका खण्डन हो जाता है।

प्रश्न-व्यासभाष्य में तो लिखा है कि **"सर्वप्राणिनां भवति"** अर्थात् सभी प्राणी वैर-भाव छोड़ देते हैं।

उत्तर-इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सभी प्राणी वैरभाव छोड़ देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति अहिंसा-पालक का सत्संग करते हैं, उसकी बात को मानते हैं, उसके व्यवहार को देखते हैं कि यह व्यक्ति किसी का बुरा नहीं करता। और जो योगी का सत्संग करते हैं, उनके अपने संस्कार भी इसमें कारण होते हैं। जो सत्संग करने वाले उत्तम संस्कारों से युक्त होते हैं, तो उनका वैरभाव अधिक मात्रा में छूटता जाता है, और

जिनके अशुभ संस्कार प्रबल होते हैं, उनका वैरभाव न्यून मात्रा में छूटता है और जिनके अत्यन्त विपरीत संस्कार होते हैं, तथा अज्ञान स्वार्थ-प्रधान जीवन होता है, उनका कुछ भी वैरभाव नहीं छूटता। इसलिये समान रूप से सबके ऊपर प्रभाव कभी भी नहीं हो सकता। ऐसे प्राणी भी देखे जाते हैं कि वैरभाव छूटना तो दूर रहा, वे योगी के प्राण भी ले लेते हैं। इसमें इतिहास भी साक्षी है। यह प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है कि ईश्वर के प्रति भी सब प्राणी वैरभाव नहीं छोड़ते, योगी की तो क्या कथा है? शेष इस विषय का विचार आगे उत्तरार्द्ध में तीसरे लेख में देख लेवें। वहाँ पर अच्छी प्रकार से प्रमाणों से सिद्ध किया है कि समस्त प्राणियों के वैरभाव छोड़ने का विचार प्रमाण के विरुद्ध है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् (योग० २ । ३६)

(सत्यप्रति०) "तथा सत्याचरण का फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब सफल हो जाते हैं"। (ऋ० भू० उपासना विषय) इस सत्य के विषय में भी बहुत भ्रान्ति है। कुछ लोग यह मानते हैं कि सत्यवादी योगी जो कुछ भी कह देवे, वही हो जाता है। यदि वह यह कह देवे कि अग्नि शीतल हो जाय तो अग्नि शीतल हो जाती है। चेतन मनुष्य जड़ बन जाय, तो जड़ बन जाता है। किन्तु ये असम्भव कार्य हैं। दूसरी बात यह है कि यदि योगी यह कह देवे कि तू धार्मिक बन जा, तो वह धार्मिक बन जाता है। प्रथम तो यह बात है कि योगी परीक्षापूर्वक बोलता है। वह न हो सकने वाली बात नहीं कहता। परन्तु योगी के कथन को सुनने वाले सब धार्मिक बन जाते हैं, यह असम्भव है। जिनके संस्कार उत्तम हैं, वे योगी की बात को ध्यान से सुनते हैं, विश्वास रखते हैं। जिनकी बुद्धि ठीक काम करती है, उन मनुष्यों के जीवन में योगी के वचन से प्रभाव पड़ता है, किन्तु सबके ऊपर योगी के कथन का प्रभाव समान रूप में नहीं पड़ता। यदि यह बात सत्य होती कि सत्यवादी जिस किसी को कह देवे कि तू धार्मिक बन जा, और वह धार्मिक बन जाय तो, योगियों ने सबको धार्मिक बनाने के लिए बहुत उपदेश दिये हैं, और धार्मिक बनाने के लिए ग्रन्थ भी लिखे हैं, तो सब लोग धार्मिक क्यों नहीं बने? ईश्वर सत्यवादी है और सबको धार्मिक बनने का उपदेश देता है, फिर सब धार्मिक क्यों नहीं

बनते ? इसलिये योगियों के साथ असम्भव बातों को नहीं जोड़ना चाहिए। इन असत्य बातों से योगी और योग दोनों की निन्दा होती है, स्तुति नहीं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् (योग० २। ३७)

जब मनुष्य मन, वचन, कर्म से चोरी का परित्याग कर देता है, तो उसको उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति बुद्धिमान् और परिश्रमी है, वही चोरी का सर्वथा त्याग कर सकता है, अन्य नहीं। परिश्रम करने से उसको उत्तम पदार्थ मिलते हैं और परिश्रमी मनुष्य को दूसरे लोग भी उत्तम पदार्थ देते हैं। जो मनुष्य चोरी को छोड़कर ईश्वराज्ञानुसार परिश्रम करता है, उसको ईश्वर ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण कर देता है। कुछ लोग यह समझते हैं कि चोरी का त्याग करने से योगी के पास सोना, चांदी आदि अपने आप पहुंच जाते हैं, यह मान्यता ठीक नहीं है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः (योग० २। ३८)

ब्रह्मचर्य का पालन करने से बल की प्राप्ति होती है। बहुत लम्बे परीक्षण के उपरान्त योगियों ने यह बतलाया कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसकी बुद्धि अति तीव्र हो जाती है और उसका शरीर स्वस्थ, बलवान् और दीर्घायु होता है। महर्षि दयानन्द ने बतलाया है कि जो मनुष्य ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह सुखपूर्वक चार सौ साल तक जीवित रह सकता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता संबोधः (योग० २। ३९)

(अपरिग्रह०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मुझको क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। (ऋ० भू० उपासना विषय)।

नियमों का फल

(१) शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः (योग० २। ४०)

शुद्धि करने से अपने शरीर से ग्लानि होती है और दूसरों के शरीरों का भी स्पर्शन नहीं करना चाहता। जब तक व्यक्ति अपने शरीर को अच्छे प्रकार से शुद्ध करके नहीं देखता, तब तक वह अपने शरीर को बहुत

सुन्दर पवित्र समझता है। शरीर को सुन्दर बनाने के लिए ईश्वरोपासना, सत्पुरुषों का संग, स्वाध्यायादि उत्तम कर्मों का भी परित्याग कर देता है। जब वह दूसरों के सुन्दर शरीर को देखता है, तो वह मोहित हो जाता है। वह इस शरीर की सुन्दरता को देखकर अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है। जब बार-बार शरीर की शुद्धि करता है और ध्यान देकर देखता है, तो उसको पता चलता है कि यह शरीर तो मलमूत्र का भण्डार है। इसका परिणाम यह होता है कि न अपने शरीर में आसक्ति होती है और न दूसरों के शरीरों में। जब शरीर से आसक्ति हटती है, तो ईश्वरोपासनादि सत्कर्मों का प्रारम्भ करने लगता है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

(योग० २। ४१)

और बुद्धि की शुद्धि, उससे मन की प्रसन्नता, उससे एकाग्रता, उससे इन्द्रियजय, उससे आत्मा के जानने की योग्यता प्राप्त होती है।

(२) सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः (योग० २। ४२)

जब मनुष्य सन्तोष का पालन करता है, तो उससे उसकी विषयतृष्णा शान्त हो जाती है। उस विषय-तृष्णा के शान्त हो जाने से जो शान्ति मिलती है, वह सब लौकिक सुखों से उत्तम होती है।

(३) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः (योग० २। ४३)

तप के करने से अशुद्धि का नाश होता है और इन्द्रियाँ स्वस्थ तथा बलवान् होती हैं।

(४) स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः (योग० २। ४४)

स्वाध्याय से इष्ट-देवता=ईश्वर के साथ जीव का सम्बन्ध हो जाता है और परमात्मा की ओर से सहायता मिलती है। वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों के पढ़ने से और प्रणव का जप करने से ईश्वर के गुणों का परिज्ञान होता है। उससे ईश्वर के प्रति अतिशय प्रेम उत्पन्न होता है।

(५) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (योग० २। ४५)

ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति होती है और समाधि से आनन्द तथा ज्ञान उपलब्ध होता है।

स्थिरसुखमासनम् (योग० २ । ४६) जो स्थायी और सुखप्रद हो वह आसन कहाता है । जिसमें लम्बे काल तक निश्चल होकर बैठा जा सके और किसी प्रकार का कष्ट अनुभव न हो, वह आसन समाधि-सिद्धि का साधन बनता है । सभी आसन समाधि के साधन नहीं हैं । इसलिये सब आसनों का करना योगाभ्यास नहीं है । कुछ लोग पचास, साठ आसन सीख लेते हैं और उन्हीं को करते-करवाते हैं । इन्हीं आसनों के करने को योगाभ्यास कहते हैं । अनेक आसन बहुत कठिन हैं और उनके करने में उछलकूद बहुत करनी पड़ती है । ऐसी अवस्था में एक नवीन योगाभ्यासी वृत्तियों का निरोध नहीं कर सकता । हां ये आसन एक प्रकार का व्यायाम हैं । इनको विधि-पूर्वक यथाशक्ति किया जाय तो स्वास्थ्य के लिये उत्तम हैं । आसनों को योग मानना और उससे ईश्वर का साक्षात्कार करने का प्रयास करना-करवाना हानिकारक है । आसन के विषय में कुछ आवश्यक बातें हैं, जिनके जानने से सफलता मिलती है । ऋषि ने बतलाया कि जो शरीर की सामान्य चेष्टायें चलती रहती हैं, उनको बन्द कर देना चाहिये और अनन्त परमात्मा का ध्यान करना चाहिये । इससे आसन की सिद्धि होती है । जब मनुष्य कण-कण में व्यापक न हिलने-डुलने वाले परमात्मा का ध्यान करता है, तो उसमें भी स्थिरता आ जाती है ।

आसन पर बैठकर शरीर की चेष्टाओं को बन्द कर देना चाहिये । और अनन्त ईश्वर का ध्यान करना चाहिये । प्रायः ध्यान करने वाले आसन पर बैठकर हाथ-पैरादि से कोई न कोई प्रयत्न करते रहते हैं, यह ठीक नहीं है । आसन-काल में रीढ़ की हड्डी और गर्दन को सीधा रखना चाहिये । मुड़कर बैठने से आलस्य तथा निद्रा आती है । लम्बे काल तक मुड़कर बैठने से पेट भी खराब होता है । भुजाओं को दोनों घुटनों पर रखने से सीधा बैठने में सहायता मिलती है । यदि लम्बे काल तक एक आसन पर न बैठा जा सके तो मध्य में आसन को परिवर्तित कर लेना चाहिये । इस प्रकार से प्रयत्न करने से आसन की सिद्धि होती है । यह आवश्यक नहीं कि ३ वा ६ घंटे का आसन लगे तभी समाधि की सिद्धि होती है । कुछ लोगों की यह मान्यता है कि जब तक ३ वा ६ घंटे का आसन सिद्ध न हो जाय तब तक समाधि की सिद्धि नहीं होती, यह मान्यता प्रमाण के विरुद्ध होने

से त्याज्य है । ऋषि दयानन्द ने ९ वें समुल्लास में लिखा है कि मुमुक्षु को नित्यप्रति न्यून से न्यून दो घंटा ध्यान अवश्य ही करना चाहिये । यदि दो घण्टों को दोनों कालों में विभाजित कर लिया जाय तो एक घंटा होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए दैनिक दो घण्टे भी बहुत है । हाँ यदि कोई अधिक समय तक आसन का अभ्यास करना चाहे तो कर सकता है । परन्तु ६ घण्टे के बिना समाधि सिद्ध नहीं होती, यह मान्यता निराधार है । जब आसन सिद्ध हो जाता है, तो शीतोष्णता, भूख-प्यासादि न्यून बाधा करते हैं और चित्त की एकाग्रता सिद्ध होती है ।

प्राणायाम का स्वरूप, विधि और फल

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (यो० २।४९)

आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास की गति को यथाशक्ति रोकना प्राणायाम है । जो बाहर से वायु को ग्रहण किया जाता है उसको श्वास कहते हैं और अन्दर के वायु को बाहर छोड़ा जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं । इन दोनों की गति को यथाशक्ति रोकना प्राणायाम है ।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिदेशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः

(योग० २ । ५०)

बाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति, देश, काल, संख्याओं से अच्छी प्रकार प्रयोग में लाया हुआ प्राण लम्बा और हल्का हो जाता है । प्राण के बाहर निकालने और अन्दर रोकने पर जिस स्थान में प्राण गति करता है वह देश है । प्राण को बाहर वा भीतर रखने में जो समय लगता है वह काल है । कितने श्वास-प्रश्वासों का समय एक प्राणायाम करने में लगा इस को संख्या कहते हैं । जैसे कि एक प्राणायाम करने में इतना समय लगा कि जितना समय दश बार श्वास-प्रश्वास में लगता है । वैसे जितने प्राणायाम करने हों, उनकी भी संख्या करनी चाहिये । जिस व्यक्ति का जितना सामर्थ्य हो उसको उतना ही प्राणायाम करना चाहिये । जिसमें प्राण को बाहर निकालकर यथाशक्ति बाहर ही रोका जाता है, उसको **बाह्य प्राणायाम** कहते हैं । जिसमें प्राण को अन्दर लेकर यथाशक्ति अन्दर ही रोका जाता है, उसको **आभ्यन्तर प्राणायाम** कहते हैं । जिसमें प्राण को न बाहर निकाला जाता और न अन्दर भरा जाता है, जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है, उसको **स्तम्भवृत्ति प्राणायाम** कहते हैं ।

प्राणायाम करने की विधि यह है कि प्रथम शौचादि से निवृत्त होकर प्राणायाम करना चाहिये। आसन पर बैठकर मूलेन्द्रिय को ऊपर की ओर खींचा जाय बाद में नासिका के द्वारा प्राण को बाहर निकाल दिया जाय मन में ओम्, प्राणायाम मन्त्र वा गायत्री का अर्थ सहित जप करे। जब घबराहट हो तो पुनः प्राण को धैर्य से अन्दर ले लेवे और मूलेन्द्रिय के संकोच को छोड़ देवे। जब प्राण की पूर्ति हो जाय तो पुनः प्राण को बाहर निकाल देवे। यह एक प्राणायाम होकर दूसरे का प्रारम्भ है। **आभ्यन्तर प्राणायाम** प्रथम एक बार प्राण को बाहर निकालकर पुनः प्राण को अन्दर लेवे। मन में जप करता रहे, जब तक घबराहट हो, तब तक प्राण को रोके और पुनः छोड़ देवे। यह दूसरा प्राणायाम हो गया। केवल बाह्य प्राणायाम में ही ऋषि दयानन्द ने मूलेन्द्रिय को ऊपर खींचने का विधान किया है। **स्तम्भवृत्ति**-जब प्राण अन्दर आता हो वा बाहर जाता हो अथवा अन्दर आ चुका हो वा बाहर जा चुका हो, उसको जहाँ का तहाँ रोक देना चाहिए पुनः श्वास-प्रश्वास की गति होने पर रोक देना चाहिए। प्राणायाम करने वाले व्यक्ति, को यम-नियमों का पालन करना चाहिये और अपनी शक्ति, भोजन, ऋतु, अनुभूति इन सबको देखकर ही प्राणायाम करना चाहिये। जो प्राणायाम के विषय में विशेषज्ञ और विश्वास योग्य हो, उसी विद्वान् से प्राणायाम सीखना चाहिये। जब प्राणायाम करते-करते मुख सूखने लगता है और सिर में भारीपन आ जाता है, तो प्राणायाम बन्द कर देना चाहिये। विशेष रुग्णावस्था में भी प्राणायाम न किया जाय। कुछ लोग नासिका को हाथ से पकड़कर प्राणायाम करते हैं परन्तु महर्षि दयानन्द जी ने 'संस्कार विधि' के गृहाश्रम प्रकरण में नाक को पकड़कर प्राणायाम करने का निषेध किया है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः (योग० २ । ५१)

जो बाह्य देश में रोका जाता है और जो आभ्यन्तर=शरीर के अन्दर रोका जाता है, उन दोनों प्राणायामों का जो अतिक्रमण करता है, वह **बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी प्राणायाम** है। इस प्राणायाम के करने की विधि यह है कि प्रथम प्राण को बाहर निकाल देवे और बाहर ही रोक देवे। जब अन्दर लेने की इच्छा हो तो उसको अन्दर न आने दिया जाय। जो अन्दर प्राण है उसमें से और बाहर निकाल दिया जाय। इस प्रकार एक बार वा दो बार जितनी भी शक्ति हो उतनी बार निकालना चाहिये। पुनः प्राण को धैर्य से

अन्दर ले लिया जाय और अन्दर ही रोक दिया जाय। जब प्राण बाहर की ओर जाने के लिये उद्वेग उत्पन्न करे तो उसको बाहर न जाने दिया जाय किन्तु बाहर से और प्राण को अन्दर लेने का प्रयास करे। इस प्रकार से एक बार वा दो बार जितनी भी शक्ति हो उतनी बार बाहर से प्राण को लेवे, परन्तु हठता कभी न करे। जब घबराहट हो तो प्राण को छोड़ देवे। यह एक बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम हुआ। जब बाह्याभ्यन्तरादि परिपक्व हो जायें तब इसको करना चाहिये। हठता पूर्वक प्राण को अधिक रोकने से मूर्छा आने लगती है। बुद्धि और शरीर दोनों खराब हो जाते हैं इसलिये बुद्धि-पूर्वक यथाशक्ति प्राणायाम करना चाहिये।

प्राणायाम से लाभ

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् (योग० २। २५)

विधि-पूर्वक प्राणायाम के करने से ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है। प्राणायाम के करने से शरीर और मन की शुद्धि होती है। इन दोनों के शुद्ध होने से ज्ञान का विकास होता है। जिस प्रकार से रुग्ण शरीर में बुद्धि क्षीण होती है, उसी प्रकार से स्वस्थ शरीर में बुद्धि की वृद्धि होती है। प्राणायाम से मन और इन्द्रियाँ वश में आती हैं। इनके वश में आने से अशुभ संस्कारों को हटा दिया जाता है। उनके हटाने से शुभ संस्कार प्रबल हो जाते हैं। उनके प्रबल होने से ज्ञान की प्रवृद्धि होती है। क्योंकि अशुभ संस्कारों से अविद्या उत्पन्न होती हैं। अज्ञान के नाश का दूसरा कारण-ईश्वरोपासना है। जब साधक प्राणायाम से मन को वश में कर लेता है, तो ईश्वरोपासना से ज्ञान का विकास होता है। और अज्ञान का नाश होता है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं- (क) "इस प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान को ढांपने वाला आवरण जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है, और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।" (ऋ० भू० उपा० वि०) (ख) "ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध किया करें तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल, पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य-वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर, बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें"। (स० प्र० ३ समु०)

धारणाओं में मन की योग्यता हो जाती है। जब मन को किसी एक विषय में लगाया जाता है, तो अपनी इच्छा के अनुसार लग जाता है। इस प्रकार विधि-पूर्वक प्राणायाम के करने से अनेक लाभ होते हैं। परन्तु हठात् अधिक प्राणायाम के करने से लाभ के स्थान में हानि भी हो जाती है। ऋषि दयानन्द जी ने संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में बतलाया है कि न्यून से न्यून तीन और अधिक से अधिक २१ प्राणायाम करने चाहियें। किन्तु हठयोग प्रदीपिका[१] में ३२० (तीन सौ बीस) दैनिक प्राणायाम करने का विधान किया है यह उचित नहीं है। क्योंकि अधिक प्राणायाम करने से रूक्षता बढ़ जाती है। और बुद्धि का ह्रास होता है और मूर्च्छा भी आने लगती है। कुछ लोग केवल प्राणायाम करने मात्र से समस्त सिद्धि मानते हैं। न वे ज्ञान की आवश्यकता समझते हैं, न शुभ कर्म करने की और न यम-नियमों के पालन करने की ही आवश्यकता समझते हैं। प्रायः देखा गया है कि अनुचित प्राणायाम के करने से सहस्रों लोगों के शरीर और बुद्धि खराब हो गये हैं। इसलिए प्राणायाम विधिपूर्वक, यथाशक्ति और अनुभव के साथ करना चाहिए।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः

(योग० २।५४)

इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सम्बन्ध न रहने पर चित्त के अनुकूल हो जाना प्रत्याहार है। जब साधक अपने मन को ओमादि के जप में लगाता है, तो इन्द्रियाँ बाहर के विषयों की ओर आकर्षण नहीं करतीं, किन्तु मन का अनुसरण करती हैं। मधुमक्खियों में एक रानी मक्खी मानी जाती है। बतलाया जाता है कि जब वह रानी मक्खी किसी शाखा पर बैठती है, तो सभी मक्खियाँ वहीं पर बैठ जाती हैं। और जब वह उठकर चलती है तो सभी मक्खियाँ उसके पीछे-पीछे चल पड़ती हैं। इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ चित्त का अनुसरण करती हैं, तो इसको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार का अभिप्राय है-चित्त पर अधिकार। चित्त को वश में करने के अनेक उपाय

---

१. 'हठयोग' की योगविषयक भ्रान्ति मान्यताओं के विषय में एक पृथक् लेख भी इसी पुस्तक के उत्तरार्द्ध में पठनीय है। (लेखक)

हैं। इस विषय में पूर्व भी लिखा जा चुका है कि चित्त एक जड़ वस्तु है। जब मनुष्य चित्त को जड़ समझकर वश में करने का प्रयास करता है, तो सफलता प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। बहुत साधक इस विषय में सुनते हैं, अध्ययन भी करते हैं। परन्तु ध्यानावस्था में उसको=चित्त को चेतन समझते हैं। जब उसको किसी एक विषय में लगाना चाहते हैं तो नहीं लगता। मन[1] को चेतन मानकर चलने वालों की ऐसी अवस्था है जैसे कि भांग के नशे में चूर होकर यान को चलाने वाले की होती है। जैसे वह यान को चलाने वाला मद के कारण यह समझता है कि-यान स्वयं दुर्घटना स्थल पर जा रहा है, मैं क्या करूँ? वैसे ही अज्ञानता के कारण मनुष्य यह समझता है कि चित्त स्वयं ही जा रहा है, मैं क्या करूँ। इसी प्रकार सन्ध्या, जपादि के करने में प्रायः मनुष्यों की यही अवस्था होती है। जब योगाभ्यासी समस्त वस्तुओं का स्वामी ईश्वर को मानकर उसके समर्पित हो जाता है, तो मन=चित्त सरलता से वश में आ जाता है।

जब साधक सांसारिक समस्त सुखों में दुःख का मिश्रण देखता है तो मन सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट नहीं होता। इसलिए योगाभ्यासी को सांसारिक सुखों में सदा दुःख का मिश्रण देखना चाहिये। ध्यानावस्था में पूर्वकाल में देखे हुये रूपवान् पदार्थों की स्मृति जीव करता है। उनकी स्मृति को दूर करने के लिए यह समझना चाहिये कि जितनी भी ये संसार की वस्तुएं हैं, सब उत्पन्न और विनाश धर्म से युक्त हैं। जब यह संसार नहीं बना था, तब ये नहीं थीं और कालान्तर में इन सबका विनाश (कारण में लय होना) हो जायेगा। इस प्रकार से प्रलय की अवस्था का स्वरूप मन में रखने से ध्यानावस्था में सांसारिक वस्तुओं के रूपादि गुण बाधा नहीं करते। इस प्रकार बार-बार इन साधनों का प्रयोग करने से मन वश में आ जाता है और मन वश में आने पर जो मनुष्य को स्वतन्त्रता की अनुभूति होती है, वह किसी भी सांसारिक अवस्था में नहीं हो सकती।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् (योग० २। ५५)

प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियाँ नितान्त वश में हो जाती हैं। इस अवस्था में इन्द्रियाँ चित्त को विषयों की ओर नहीं खींचती।

---

१. महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में मन और चित्त को एक मानकर उपदेश किया है। (लेखक)

इस दूसरे पाद में अविद्या का स्वरूप हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय, योग के पांच अंग और उनके फलादि का संक्षेप-रूपेण समझाने का प्रयास किया गया है। जिज्ञासु सज्जन इसके अध्ययन से स्वयं लाभान्वित होंगे और अन्यों को भी योग-मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सकेंगे।

अब योगदर्शन के तृतीय पाद का विषय प्रारम्भ किया जाता है। इस पाद का नाम विभूति पाद है। इसमें मुख्यरूपेण विभूतियों का वर्णन है और तीन अन्तरङ्ग योग के अंगो का भी वर्णन है। और भी अनेक विषय इस पाद में आ गये हैं।

धारणा का स्वरूप

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (योग० ३ । १)

चित्त को किसी एक देश में स्थिर करके अपने अभीष्ट विषय का ध्यान करना धारणा है। अपने शरीर में मस्तक, हृदयादि किसी एक स्थान पर मन को स्थिर करके ओम् वा गायत्री मन्त्र का अर्थ-सहित जप करना धारणा है। किसी देश में मन को रोकना मात्र धारणा नहीं है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं "(देशबं०) जब उपासना-योग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। **(धारणा)** उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्र भाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है उसका विचार करना"। (ऋ० भू० उपासना०)

ध्यान की परिभाषा

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (योग० ३ । २)

इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-"**(तत्रप्रत्ययै०)** धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकार और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम-भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे-समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है। इन सात अङ्गों का फल समाधि है"। (ऋ० भू० उपासना०) ध्यान की स्थिति यह है कि जैसे किसी सत्यवादी

मनुष्य ने किसी दूसरे व्यक्ति को कहा कि इस बहुत गहरे जल में एक बहुमूल्यवान् वस्तु डूब गई है, आप उसको गोता लगाकर निकाल दो। वह दूसरा मनुष्य कहता है कि मैंने उस वस्तु को कभी भी नहीं देखा। सत्यवादी व्यक्ति कहता है कि वह वस्तु इस आकार-प्रकार की और इतनी लम्बी-चौड़ी है। तब वह व्यक्ति गोता लगाकर उस वस्तु को ढूँढ़ता है। उस काल में उस वस्तु के आकार-प्रकार आदि गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय को मन में नहीं आने देता, यही ध्यान की अवस्था है।

इसी प्रकार से वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों में ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया है। उसी ईश्वर के स्वरूप को मन में रखकर ईश्वर का ध्यान करना चाहिए और उस गवेषणा काल में ईश्वर के स्वरूप को छोड़कर और किसी अन्य वस्तु को मन में नहीं आने देना चाहिए, यही ईश्वर का ध्यान है। जैसे कि ईश्वर सर्वरक्षक है, सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है, आनन्दस्वरूप है, सर्वशक्तिमान् है, इत्यादि। कुछ लोग यह मानते हैं कि जब तक कोई रूप, आकार, लम्बाई, चौड़ाई आदि न हो तब तक ध्यान नहीं हो सकता। वास्तव में इस मान्यता में कोई सत्यता नहीं है, क्योंकि सुख का कोई रंग, आकारादि नहीं दिखाई देता। परन्तु लाखों प्राणी दिन-रात सुख का ही ध्यान करते हैं। दुःख का भी कोई हाथ-पैर दिखाई नहीं देता। परन्तु सदा सभी जीव दुःख का ध्यान करते हैं कि कभी दुःख न आ जाए। शब्द का ध्यान किया जाता है और ध्यान से शब्द की प्राप्ति होती और उससे अनेक प्रयोजनों की सिद्धि की जाती है। अतः यह आवश्यक नहीं है। कि रूपवान् वस्तु का ही ध्यान होना है और रूप-रहित का नहीं। ईश्वर में ज्ञान, बल, आनन्दादि गुण हैं। उन्हीं के द्वारा उसका ध्यान किया जाता है और उस ध्यान से ही समाधि और समाधि से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। जिस वस्तु में जो गुण होते हैं, उन्हीं के माध्यम से उस वस्तु का ध्यान किया जाता है, अन्यथा नहीं। जब ईश्वर में रूप, आकार, हाथ, पैर आदि कुछ हैं ही नहीं, तो उसमें रूप, हाथ आदि को मानकर उसका ध्यान करना व्यर्थ है। ऐसे ध्यान से ईश्वर की प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती। क्योंकि वे गुण ईश्वर में हैं ही नहीं। वह तो ध्यान के स्थान में अध्यान किया जाता है।

लाखों लोग ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु ईश्वर के स्थान में ध्यान दूसरी वस्तुओं का करते हैं। इस अशुद्ध ध्यान से संसार की महती

हानि हो रही है । यदि ईश्वर को मानने वाले लोग सच्चा ध्यान करते तो बुद्धिमान, बलवान्, सदाचारी और आनन्द से परिपूर्ण हो जाते और जितने ये ईश्वर को मानने वालों में झगड़े हैं, ये सभी न रहते । इसलिए ईश्वर के सत्य-स्वरूप को जानकर उसका ध्यान करना-करवाना चाहिये । इससे सबका कल्याण होगा, अन्यथा नहीं । यहाँ एक प्रश्न उठता है कि **ध्यानं निर्विषयं मनः** (सां० ६ । २५) इस सांख्य के सूत्र से यह प्रतीत होता है कि मन का नितान्त विषयरहित हो जाना ही ध्यान है, अर्थात् मन में किसी भी विषय का न रहना । वास्तव में इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि **ध्यानमेकविषयं मनः** अर्थात् जब मन के द्वारा लम्बे काल तक किसी एक अभीष्ट स्थान में परमात्मा की गवेषणा की जाती है और अन्य विषयों को रोक दिया जाता है, उस अवस्था का नाम ध्यान है । जब जीव सच्चे ईश्वर की गवेषणा करता है और अन्य विषयों को मन में नहीं आने देता, वह ईश्वर का ध्यान कहाता है इसलिए नितान्त विषय-रहित मन की अवस्था का नाम ध्यान नहीं है । योग की प्राप्ति के लिए ध्यान के स्वरूप को अच्छे प्रकार से समझ लेना चाहिए और पुनः उसका प्रयोग करना चाहिए ।

समाधि का स्वरूप

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (योग० ३ । ३)

इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-" **(तदेवार्थ०)** जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जानके आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान में परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं" । (ऋ० भू० उपासना०) वह ध्यान ही जब अर्थमात्र=वस्तुमात्र को प्रकाशित करता है और स्वरूप से शून्य सा हो जाता है, वह समाधि कहाती है ।

प्रश्न-कुछ लोग यह कहते हैं कि स्वरूपशून्य का यह अर्थ है कि समाधि अवस्था में मनुष्य शून्यता को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् उसको किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता ?

उत्तर-यह अर्थ ठीक नहीं है; क्योंकि सूत्र में कहा है कि **(अर्थमात्रनिर्भासम्)** जब समाधि अवस्था में अर्थ=वस्तु प्रकाशित होगी तो

मनुष्य ज्ञान से शून्य कैसे होगा ? यदि ज्ञान न रहे तो समाधि में वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता और साक्षात्कार होता है तो समाधिस्थ मनुष्य ज्ञानशून्य नहीं हो सकता। यदि ज्ञान से शून्य अवस्था समाधि है तो मदकारी द्रव्य के सेवन से मूर्च्छावस्था भी समाधि मानी जाएगी । इसलिए यह मान्यता असत्य है । जब समाधि अवस्था में जीव ईश्वर का साक्षात्कार करता है तो स्वयं को भूल-सा जाता है अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का सर्वव्यापक रूप में प्रत्यक्ष होने से अपने स्वरूप का ज्ञान निर्बल पड़ जाता है । जैसे कोई व्यक्ति किसी महापुरुष के दर्शन के लिये जाता है तो उस महापुरुष के गुणों को देखकर अपने को भूल-सा जाता है, ज्ञान-शून्य नहीं होता । जब समाधि परिपक्वावस्था में पहुंच जाती है तो जीव ईश्वर, संसार और अपने को पृथक्-पृथक् जानता है । उस अवस्था में ज्ञान परिपक्व हो जाता है। जीव यह समझता है कि यह परमात्मा उपासना करने के योग्य है और यह संसार उपासना करने योग्य नहीं, ऐसा जानता है । जब समाधि लगाता है तो ईश्वर-साक्षात्कार से आनन्द, ज्ञान, निर्भयता की प्राप्ति होती है और जब समाधि भंग हो जाती है तो अज्ञान, दुःखादि की उपलब्धि होती है । इस प्रकार समाधि-अवस्था में जीव ज्ञान, आनन्द से परिपूर्ण होता है ज्ञानशून्य नहीं । इसलिये ज्ञानशून्य मानना अनुचित है ।

योग-विभूतियाँ

इस पाद में अनेक विभूतियों का वर्णन है। विभूति का अर्थ योगाभ्यास से प्राप्त ज्ञान, बल, सुखादि है । इस पाद में संयम से सिद्ध होने वाली विभूतियों का विशेष रूप से वर्णन किया है । धारणा, ध्यान, समाधि का किसी एक विषय में एकत्रित होना संयम कहाता है । यह एक परिभाषा है। धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों का कथन न करके इनके स्थान में संयम शब्द का प्रयोग किया जाता है। विभूतियों के विषय में एक प्रश्न उठता है कि क्या इन विभूतियों के प्राप्त किये बिना कोई योगी बन सकता है ? इसका उत्तर यह है-इन विभूतियों के प्राप्त किये बिना भी योगी बन सकता है । सूत्रकार ने बतलाया कि **"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः"** (यो० ३ । ३७) वे प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद, वार्ता नामक सिद्धियाँ समाधि में उपसर्ग=विघ्न हैं और सांसारिक अवस्था में सिद्धियाँ हैं ।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् (यो० ३ । ५०)

उन सिद्धियों के प्रति भी वैराग्य होने के कारण दोषों के बीज का नाश होने पर मोक्ष हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति (यो० ३ । ५५)

यहाँ महर्षि दयानन्द लिखते हैं-"(सत्त्वपुरुषः) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं" । (ऋ० भू० मुक्ति विषय) **एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा** (व्यासभाष्य) इस अवस्था में मोक्ष होता है, चाहे वह ऐश्वर्यवान् हो वा ऐश्वर्य-रहित हो, विवेकज-ज्ञान भागी हो अथवा न हो। इससे यह सिद्ध है कि संयम-प्राप्त सिद्धियाँ मोक्षप्राप्ति में आवश्यक नहीं हैं। कुछ लोग तो सिद्धियों को देखकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना ही छोड़ देते हैं। वे यह समझते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए इन सभी सिद्धियों का करना आवश्यक है और हम इनको कर नहीं सकते। वास्तव में ऐसा समझना भूल है । इसलिए मोक्ष-प्राप्ति के लिये इन सिद्धियों की अनिवार्यता नहीं है। मोक्ष के लिए शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्धोपासना का होना आवश्यक है। इनके बिना कोई भी मनुष्य योगी बनकर मुक्ति का भागी नहीं हो सकता।

चतुर्थ पाद

इस पाद में मुख्यरूपेण कैवल्य का वर्णन है। अतः इसका नाम कैवल्य पाद है। कैवल्य के अतिरिक्त और भी अनेक विषय इस पाद में आए हैं। जैसे कि चित्त को कैवल्य के योग्य किस प्रकार से बनाया जाये, चार प्रकार के कर्मों का स्वरूप इत्यादि।

चित्त को कैवल्य के योग्य कैसे बनाया जाए ?

तत्र ध्यानजमनाशयम् (योग० ४ । ६)

उस भिन्न-भिन्न अवस्था वाले चित्त में से जो ध्यान के द्वारा सुसंस्कृत किया जाता है वह अनाशय=वासना से रहित होता है। वासना-रहित होने से वह मुक्ति का साधन बन जाता है। यहाँ सूत्र में **(ध्यानजम्)** शब्द से यह न समझना चाहिए कि ध्यान द्वारा नया चित्त बना दिया जाता है। **(ध्यानजम्)** का अर्थ है-ध्यान के द्वारा संस्कृत किया हुआ चित्त। ध्यान के माध्यम से

चित्त की अशुभ वासनाएँ हटा दी जाती हैं और मोक्ष-प्राप्ति के सामर्थ्य को उसमें प्रविष्ट कराया जाता है और निष्काम कर्म भी मोक्ष के साधन हैं इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि-

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् (यो० ४ । ७)

कर्म चार प्रकार के होते हैं । कृष्ण=पापकर्म, शुक्ल=पुण्यकर्म शुक्लकृष्ण=पाप-पुण्य मिश्रित कर्म, जो अशुक्लाकृष्ण कर्म हैं वे निष्काम कर्म हैं । एक व्यक्ति वेद को पढ़ता है । उस वेद के पढ़ने से वह विद्वान् बनेगा और दूसरों को भी विद्या पढ़ायेगा । इस कर्म के करने से किसी को कोई विशेष हानि नहीं पहुंच रही है अतः यह शुक्ल कर्म है । एक व्यक्ति किसी महापुरुष को गाली दे रहा है यह कृष्ण कर्म है । एक व्यक्ति ऐसा कर्म करता है कि जिससे हानि और लाभ दोनों अधिक मात्रा में होते हैं । जैसे कि खेती करने में बहुत प्राणियों को दुःख पहुंचता है । परन्तु उससे जो अन्न उत्पन्न होता है वह विद्या, धर्म के प्रचार के लिए साधन भी है, इसलिये इसका नाम कृष्णशुक्ल कर्म है । जो कर्म लौकिक कामनाओं को छोड़कर ईश्वर-प्राप्ति के लिए किए जाते हैं, वे अशुक्लाकृष्ण कर्म हैं । मोक्ष का अधिकारी बनने के लिये निष्काम कर्मों का करना अनिवार्य है । इसलिए सूत्रकार ने कहा कि योगियों के कर्म अशुक्लाकृष्ण होते हैं । ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश (९ समु०) में लिखा है-"अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति" इससे यह सिद्ध हुआ कि न केवल ज्ञान से मुक्ति, न कर्म से, न उपासना से, इन तीनों के शुद्ध होने पर ही मुक्ति मिलती है अन्यथा नहीं ।

अशुभ-वासना प्रवाह से अनादि है, उसके रहते हुए मोक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं है । इस समस्या का समाधान महर्षि पतञ्जलि जी ने यह किया है कि अविद्यादि वासनाओं के आधार हैं । उन आधारों को दूर करने से वासनायें दूर हो जाती हैं और उनके दूर होने से मोक्ष की सिद्धि हो जाती है ।

पुरुपार्थशून्यानां गुणानां[1] प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति (योग० ४ । ३४)

उनका प्रकृति में विलीन हो जाना मोक्ष है । अथवा समस्त प्रकृति और विकृति से जीव अपने स्वरूप को पृथक् समझ लेता है और ईश्वर के स्वरूप में मग्न हो जाता है इसका नाम कैवल्य=मोक्ष है । इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-"(**पुरुपार्थ०**) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजस् और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके स्वरूप-प्रतिष्ठा=जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्धस्वरूप, विज्ञान, प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य=मोक्ष कहते हैं" ।

(ऋ० भू० मुक्ति विषय)

यहां स्वरूप-प्रतिष्ठा का अर्थ यह नहीं है कि जीव केवल अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । इसका यह अभिप्राय है कि जीव प्रकृति, विकृति और अपने स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो जाता है और आनन्द का अनुभव करता है । इस विषय में (योग० १।३) सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है । मोक्ष के विषय में एक प्रश्न और उठता है कि जीव मोक्ष को प्राप्त होकर पुनः संसार में जन्म लेता है वा नहीं ? इसका उत्तर यह है पुनर्जन्म लेता है । इसमें प्रमाण है-

"प्रश्न-जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरण रूप दुःख में कभी आते हैं वा नहीं ? क्योंकि-**न च पुनावर्तते न च पुनरावर्तत इति** । उपनिषद् वचनम् । **अनावृत्तिशब्दादनावृत्ति शब्दात्** । शारीरिकसू० । **यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम** (भगवद्गीता) इत्यादि वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता ।

उत्तर-यह बात ठीक नहीं क्योंकि वेद में इस बात का निषेध है-

---

१. जिन सत्त्व आदि तीन गुणों से बने हुए बुद्धि, अहंकारादि पदार्थों ने पुरुष=जीव का प्रयोजन= लौकिक सुख और मोक्ष सिद्ध कर दिया है ।

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।

को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।। १ ।।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।

स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।। २ ।।

(ऋ० । मं० १ सूक्त० २४ । मं० १, २)

प्रश्न-हम लोग किसका नाम पवित्र जानें, कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है ? ।। १ ।।

उत्तर-हम उस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथ्वी में माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है । वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता और सबका स्वामी है ।। २ ।।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।। (सांख्य सू० १ । १५९)

जैसे-"इस समय बन्ध-मुक्त जीव हैं वैसे ही सर्वदा रहते हैं । अत्यन्त विच्छेद बन्ध-मुक्ति का कभी नहीं होता, किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहतीं" । (सत्यार्थप्रकाश ९ समु०)

प्रश्न-उपनिषद्, वेदान्त, गीता आदि में यह लिखा है कि मोक्ष होने के पश्चात् पुनर्जन्म में जीव नहीं आता-

उत्तर-'न च पुनरावर्तते०' इत्यादि वचनों का यह अभिप्राय है कि जब तक मुक्ति की अवधि है अर्थात् ३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष तक मध्यकाल में जन्म में नहीं आना पड़ता । जब मुक्ति की अवधि समाप्त हो जाती है तो जन्म-मरण में आना पड़ता है । क्योंकि शुद्ध ज्ञान-कर्मोपासना से मुक्ति मिलती है और वे ज्ञान कर्मोपासना जीव ने सीमित रूप में किये हैं । उनका फल भी सीमित होना चाहिए, असीमित नहीं । यदि सीमित ज्ञान-कर्मोपासना का फल परमात्मा अनन्त दे देवे तो, अन्याय हो जाए । जो जितना अच्छा वा बुरा कर्म करता है, उसको उतना ही सुख व दुःख फल देना न्याय कहाता है । जो पशु, पक्षी आदि योनियाँ हैं, उनमें जो जीव रहते हैं, वे बहुत दुःखी हैं । यदि बिना कर्म के उनको परमात्मा पशु आदि योनियों

में भेज देवें तो वह दोषी हो जाए। इसलिए मुक्ति और बन्धन कर्मों के कारण ईश्वर देता है और कर्मों के सीमित होने से उनका फल भी सीमित होना उचित है, न कि सीमित कर्मों का असीमित फल। अतः मोक्ष के पश्चात् जीव पुनः जन्म-मरण में आता है। यदि मोक्ष से जीव पुनः संसार में जन्म न लेवे तो यह भी दोष आता है कि यह संसार समाप्त हो जाये। क्योंकि जो-जो जीव मोक्ष में जाते रहेंगे वे पुनः संसार में न आयेंगे। और जीवों की संख्या निश्चित है, वे नये उत्पन्न नहीं होते, तो यह संसार समाप्त हो जाना चाहिए था अतः मोक्ष को प्राप्त होकर पुनः संसार में जीव का जन्म मानना ही ठीक है।

प्रश्न-जब मुक्ति की अवधि समाप्त हो जाती है और पुनः जीव संसार में जन्म लेता है तो उस जन्म का क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर ऋषि दयानन्द ने **'अग्नेर्वयं'** (ऋ० । मं० १ सू० २४ मं० २) की व्याख्या में दिया है-

"**अयमेव मुक्तानामपि जीवानां महाकल्पान्ते पुनः पापपुण्यतुल्यतया पितरि मातरि च मनुष्यजन्म कारयतीति च**-कि वही मोक्ष पदवी को पहुंचे जीवों का भी महाकल्प के अन्त में फिर पाप-पुण्य की तुल्यता से माता-पिता और स्त्री आदि के बीच में मनुष्य जन्म धारण कराता है"। ऋषि के इस वचन से यह सिद्ध होता है कि जब जीव मोक्ष को प्राप्त करता है तो साधारण मनुष्य-जन्म जिन पाप-पुण्यात्मक कर्मों से मिलता है वे शेष रह जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करवाने वाले निष्काम कर्म मोक्ष-फल को देकर समाप्त हो जाते हैं। इसलिए मोक्ष के पश्चात् जीव के जन्म का कारण पाप-पुण्य की तुल्यता से ही मानना उचित है। यह संक्षेप से योग का स्वरूप, उसका फल, योग के साधनों और बाधकों का स्वरूप बतलाने का प्रयास किया है। इस प्रकरण में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि योगाभ्यासी किस प्रकार से योग-मार्ग पर चलकर ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और दूसरों को भी करवा सकता है। आशा है कि बुद्धिमान् योग-जिज्ञासु इस का अध्ययन कर और अपने जीवन में उतारकर अपना और दूसरों का कल्याण करेंगे।

इति योगमीमांसापुस्तकस्य

योगमण्डनात्मकः पूर्वार्द्धः ॥

अथ योगमीमांसापुस्तकस्य उत्तरार्द्धः

१

क्या ईश्वर, जीव, प्रकृति का पृथक्त्व जाने बिना कोई योगी बन सकता है ?

इस वर्तमान युग में योग के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हो चुकी हैं और उनकी प्रवृद्धि होती चली जा रही है । इन मिथ्या धारणाओं के कारण ही मनुष्य-जाति दुःखसागर में डूबती चली जा रही है । यदि इन अज्ञान और स्वार्थ से कल्पित विचारों को न रोका गया तो और भी अज्ञानता की वृद्धि होगी और उसका परिणाम होगा प्राणिमात्र को महान् दुःख की प्राप्ति । योग के स्वरूप को जानने के लिए मैं लगभग ३५ (पैंतीस) वर्षों से प्रयत्नशील हूँ और योगानुष्ठान से मुझे महान् लाभ हुआ है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । इतने समय में मैंने जो योग के विषय में अनुभव किया और वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से जो जाना, उसको सबके हितार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

इस लेख का उद्देश्य सत्यासत्य को जानना व जनाना है, पक्षपात से किसी का खण्डन करना नहीं । योग के जिज्ञासु और शिक्षक श्रद्धापूर्वक पक्षपातरहित होकर इस लेख को पढ़ेंगे तो निश्चितरूपेण महान् लाभ होगा ।

प्रश्न-कुछ लोग कहते हैं, चाहे कोई ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को अनादि माने, चाहे कोई जीव और प्रकृति को अनादि माने, चाहे केवल प्रकृति को अनादि माने परन्तु योगी सभी बन सकते हैं । इन मान्यताओं का योग से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

उत्तर-सच्चा योगी केवल ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि मानने वाला ही बन सकता है; अन्य नहीं और जो लोग यह कहते हैं कि योग के साथ इन मान्यताओं का कोई सम्बन्ध नहीं, वे अज्ञानान्धकार में पड़े हैं । त्रैतवाद से भिन्न मान्यताओं को मानने वाले कभी भी योगी नहीं बन सकते क्योंकि ऐसा मानना प्रमाण और युक्ति के विरुद्ध है । योग के वास्तविक

स्वरूप को दर्शाने वाले योगदर्शन में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। "**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**" (योग० १ । २४) इस सूत्र में '**पुरुषविशेष ईश्वरः**' कथन से स्पष्टतः ईश्वर और जीव की भिन्नता सिद्ध है कि सामान्य पुरुष जीव है और पुरुषविशेष ईश्वर है।

योगदर्शन के भाष्यकार व्यास जी इसी (१ । २४) सूत्र के अवतरण में लिखते हैं कि-"**अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति**" ? अब प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त कौन यह ईश्वर है। इस व्यास जी के वाक्य से भी ईश्वर, जीव और प्रकृति की भिन्नता सिद्ध होती है। "**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**" (योग० २ । १८) इस सूत्र में ईश्वर और जीव से भिन्न जो प्रकृति है, उसको जीव के भोग और मोक्ष के लिए बतलाया है। **द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः** (यो० २ । २०) इस सूत्र में जीव को ईश्वर और प्रकृति से भिन्न दर्शाया है। क्योंकि सूत्रकार ईश्वर और प्रकृति को पूर्व के सूत्रों में बतला चुके हैं, अतः इस सूत्र में जीव के स्वरूप का वर्णन है।

और वेदान्तदर्शन में भी त्रैतवाद को स्वीकार किया है यथा-**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (वे० १ । १) इस सूत्र में ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा का उपदेश है। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं तो ब्रह्म के जानने के लिए जिज्ञासा कौन करेगा ? **जन्माद्यस्य यतः** (वे० १ ।२) जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वही ब्रह्म जानने योग्य है।

इन सूत्रों से नितान्त यह बात सिद्ध है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। इन सूत्रों में स्पष्ट वर्णन है कि एक जिज्ञासा करने वाला है और उससे भिन्न की वह जिज्ञासा करता है। जो कि प्रकृति से संसार को बनाता, चलाता एवं बिगाड़ता है। अतः केवल ब्रह्म को अनादि मानने वाले कभी योगी नहीं बन सकते।

एक महान् योगी स्वामी दयानन्द सरस्वती जी भी ईश्वर, जीव और प्रकृति को तीनों कालों में भिन्न मानते हैं। सत्यार्थ प्रकाश ८ समु० में "**द्वा सुपर्णा सयुजा०**" (ऋग्० मं० १ । सू० १६४ । मं० २०) से स्वामी जी महाराज ने ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि सिद्ध किया है। जो लोग स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को योगी नहीं मानते वे अनभिज्ञ हैं। क्योंकि

उनके ग्रन्थों के अध्ययन और उनके जीवन-काल के व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि वे महान् योगी थे । अतः योग के विषय में उनका सिद्धान्त स्वीकार्य है ।

युक्ति से भी यह बात सिद्ध है कि त्रैतवाद को मानने वाला ही योगी बन सकता है । यदि केवल ब्रह्म को ही अनादि माना जाय तो योगाभ्यास करके योगी बनने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह तो स्वयं सच्चिदानन्द है । उसको किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है । जो लोग ईश्वर और प्रकृति को अनादि मानते हैं उनकी मान्यता के अनुसार भी योगी बनने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रकृति जड़ है । वह योगाभ्यास कैसे करेगी, और जड़ होने से उसको आवश्यकता भी नहीं है । इसी प्रकार जो लोग केवल प्रकृति को अनादि मानते हैं उनके मतानुसार भी योगी बनने की आवश्यकता नहीं है । और जो लोग जीव और प्रकृति को अनादि मानते हैं उनके मतानुसार भी कोई योगी नहीं बन सकता । क्योंकि जब कोई ईश्वर नाम का पदार्थ ही नहीं है तो योगाभ्यास से जीव किस को प्रत्यक्ष करेगा ? यदि यह मान लिया जांय कि जीव योगाभ्यास से स्वयं ईश्वर बन जाता है तो यह प्रश्न उठता है कि योगाभ्यास करने से ईश्वर बनने का सामर्थ्य कहाँ से आयेगा, और योगाभ्यास से ईश्वर बनने से पूर्व जीव बन्धन में क्यों आया ? इसी प्रकार से संसार के अन्दर जितने भी वाद हैं उनमें केवल त्रैतवाद ही ऐसा है जिसके अनुसार चलने से ही मनुष्य सच्चा योगी बन सकता है, अन्य किसी वाद के अनुसार नहीं । अतः योग के जिज्ञासु और शिक्षक त्रैतवाद को अवश्य स्वीकार कर योगाभ्यास करें-करावें । अन्यथा स्वयं दुःख-सागर में गोते लगावेंगे । और जो उनकी बातको मानकर योगाभ्यास करेंगे वे भी अपने मनुष्य-जीवन को व्यर्थ खो बैठेंगे ।

एक प्रसिद्ध योगी कहलाने वाले स्वामी जी से भेंट - एक दिन की बात है कि एक महान् योगी माने जाने वाले, जो अनेक देशों में भी योग-प्रशिक्षण के लिये जा चुके हैं, उनके साथ मेरा वार्तालाप हुआ । उस वार्तालाप के समय जिन विषयों पर शंका-समाधान हुआ उनमें से कुछ बातों को सर्व-हितार्थ प्रस्तुत करता हूँ ।

प्रश्न - आप वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं वा नहीं ?

उत्तर - (स्वामी जी का) मैं वेद को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानता । वह तो ऋषियों के हृदय की उपज है ।

प्रश्न – आप जीव की सत्ता को ईश्वर और प्रकृति से भिन्न मानते हैं वा नहीं ?

उत्तर – मैं जीव की सत्ता को ईश्वर और प्रकृति से भिन्न नही मानता ।

प्रश्न – मनु आदि ऋषियों ने तो जीव की सत्ता को ईश्वर आदि से भिन्न स्वीकार किया है ।

उत्तर – उनकी मान्यता कुछ भी हो परन्तु मेरी मान्यता यह है कि जीव की कोई सत्ता नहीं है ।

प्रश्न – ईश्वर में कोई गुण है वा नहीं ?

उत्तर – ईश्वर में कोई गुण नहीं है, और स्वामी दयानन्द जी ने ईश्वर को सगुण-निर्गुण दोनों प्रकार का माना है, वह ठीक नहीं है ।

प्रश्न – आपकी इन मान्यताओं में प्रमाण क्या है ?

उत्तर – प्रमाण कोई नहीं है । केवल मैं ऐसा ही मानता हूँ ।

(जब-जब भी कोई प्रमाण पूछा जाता था तब-तब स्वामी जी यही उत्तर प्रायः देते थे कि **"मैं ऐसा मानता हूँ"** । इसी अवसर पर स्वामी अग्निदेव जी भीष्म ने यह पूछ लिया कि स्वामीजी ! आपने जो पुस्तक लिखी है, उसमें तो तीन सत्ताओं को अनादि माना है । स्वामीजी ने उत्तर दिया कि उस समय मैं तीनों को अनादि मानता था, परन्तु अब मेरी मान्यता परिवर्तित हो गई है ।

प्रश्न – यह भी आपकी मान्यता परिवर्तित हो गई तो ?

उत्तर – अब नहीं होगी अर्थात् ईश्वर और प्रकृति इन दो को अनादि मानता हूँ, जीव की सत्ता को नहीं मानता । यह मेरी मान्यता अब नहीं बदलेगी ।

इस प्रकार से संसार में अनेक प्रसिद्ध योगी बन बैठे हैं, कि मैं ऐसा ही मानता हूँ, और यह मेरा अनुभव है । इस प्रकार बिना प्रमाण और युक्ति के लोग अपनी मान्यताओं को खड़ा करते हैं, उनके कपोल-कल्पित सिद्धान्तों को धराशायी करने के लिए सांख्य के रचयिता कपिल मुनि जी ने कहा है कि – **नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्त्वम्** (सां० १ । २६) अर्थात् युक्ति-विरुद्ध बात भी मानी जाय तो अज्ञानी और उन्मत्तों की बात भी मान लेनी चाहिये । अतः प्रमाण-युक्ति-शून्य केवल अपनी कल्पनाओं से मान्यताओं की स्थापना करने वाले योगी कदापि नहीं हो सकते । इसलिए ईश्वर, जीव और प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को जानने, मानने तथा तदनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति ही योगी बन सकता है, अन्य नहीं ।

२

वेद, वेदांग, उपांगादि के अध्ययन बिना क्या कोई पूर्ण योगी बन सकता है ?

योग के विषय में दूसरी भ्रान्ति यह है कि वेद, वेदांग, उपांग आदि का अध्ययन किये बिना ही व्यक्ति पूर्ण योगी बन जाता है, इनके अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं है। आज-कल अनेक लोग इसी बात का प्रचार करते हैं कि योगी बनने के लिए वेदादि-शास्त्र के अध्ययनाध्यापन की कोई आवश्यकता नहीं है। योगाभ्यास करते-करते पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की स्वयमेव उपलब्धि हो जाती है। वास्तव में इस उपरिलिखित मान्यता पर विचार किया जाये तो यह निराधार सिद्ध होती है। इस लेख में प्रमाण और युक्तियों से इसी मान्यता पर विचार किया जायेगा।

मनु महाराज जी कहते हैं कि -

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ।।

(मनु० १२ । ९७)

(चातु०) चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं। (ऋ० भू० वेदवि० वि०)

इसी विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी लिखते हैं कि -

प्रश्न - जगत् के रचने में तो ईश्वर के बिना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं, परन्तु जैसे व्याकरण-शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है, वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है।

उत्तर - "नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं, उनको पढ़ने के

पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है । उसके पढ और ज्ञान के बिना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता है ।" स्वामीजी महाराज के इस 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्ति' विषय में उद्धृत लेख से सुस्पष्ट है कि बिना विद्वान् बने कोई भी योगी नहीं बन सकता । स्वामीजी महाराज पुनः लिखते हैं कि -"परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-विद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता" ।

(ऋग्वेदादिभा० भू० वेदोत्पत्तिविषय)

प्रश्न - योगदर्शन के **योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः** (यो० सू० २।२८) इस सूत्र में लिखा है कि आठ योगांगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का विकास विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है । अतः वेदादि शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है ।

उत्तर - वास्तव में जिन लोगों ने इस सूत्र का अर्थ ठीक नहीं समझा वे ऐसा मानते हैं । क्योंकि योग के आठ अङ्ग योगदर्शनानुसार हैं । यथा-**यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गनि** (योग० २।२९) । उनमें दूसरा अङ्ग नियम है, अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान । व्यासजी महाराज ने स्वाध्याय की व्याख्या निम्न प्रकार से की है - "**स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा**" (योग० २ । ३२ पर व्यासभाष्य) अर्थात् मोक्ष-शास्त्रों का अध्ययन और प्रणव=ओम् का जप करना स्वाध्याय है । इससे सिद्ध है कि योगी बनने के लिए मोक्ष-शास्त्रों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है । मोक्ष-शास्त्र चार वेद और उनके अनुकूल ऋषिकृत ग्रन्थ ही हो सकते हैं, अन्य नहीं । "**नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्**" वेदों को नहीं जानने वाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता ।" (ऋ० भू० पठन-पाठन विषय)

प्रश्न - कुछ लोग कहते हैं कि "**योग एव योगस्योपाध्यायः**" अर्थात् योग ही योग को सिखा देता है । न वेदाध्ययन की आश्यकता न किसी को गुरु बनाने की अपेक्षा है ।

उत्तर - यह भी कथन सत्यता से हीन है। क्योंकि इस वाक्य का तो यही अर्थ है कि जब मनुष्य योग की एक अवस्था का अनुभव कर लेता है, तब उससे ऊपर की अवस्था को जानने का सामर्थ्य बढ़ जाता है। परन्तु योग की अवस्था के अनुभव करने के पश्चात् दूसरी उससे ऊंची अवस्था के अनुभव करवाने में वेद-ज्ञान ही कारण है, स्वाभाविक ज्ञान नहीं। क्योंकि ज्ञान ज्ञाता के आश्रय रहता है और जीव का स्वाभाविक ज्ञान समाधि की प्राप्ति नहीं करा सकता। अतः ईश्वरीय वेद-ज्ञान से ही योगी योग की ऊंची अवस्था को प्राप्त करता है। इसी **'योग एव योगस्योपाध्यायः'** वाक्य से अनेक लोगों को यह भी भ्रम हो गया है कि योग को जानने के लिये किसी को गुरु बनाने की आवश्यकता नहीं है, योग ही योग को सिखा देता है। इसका परिणाम यह निकला कि सच्चे गुरु की परम्परा नष्ट हो गई, और अन्ध-परम्परा चल पड़ी। इसी बात को सांख्यकार ने ऐसा कहा है कि-**"उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः (सां० द० ३ ।७९) इतरथाऽन्धपरम्परा (सां० द० ३ । ८१)"**। जब मुक्ति को जानने वाले और उन गुरुओं से विद्या-ग्रहण करने वाले उत्तम शिष्य होते हैं, तो अनेक लोग जीवन-मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। और जब सच्चे गुरु मुक्ति को जानने-जनाने वाले नहीं रहते तो पुनः अन्ध-परम्परा चलती है। इसी अन्ध-परम्परा में पड़कर अनेक लोग मिथ्या योग के नाम से अपने बहुमूल्यवान् जीवन को वृथा खो रहे हैं। उनकी वही अवस्था है कि **"अट्ठारह अध्याय गीता के रगड़ मारे परन्तु गुरु एक भी नहीं बनाया"**।

इसी प्रकार अनेक लोग न वेद को पढ़ते हैं, न सच्चे गुरु से योग की शिक्षा को प्राप्त करते हैं और "योग एव योगस्योपाध्यायः" इस वाक्य का विपरीत अर्थ करते हैं। इस विपरीत मान्यता को मानकर चलने वाले स्वयं तो लाभ से वञ्चित रहते ही हैं, और अपने अनुयायियों को भी अन्धकार में डालकर दुःख-सागर में डुबो देते हैं। एक प्रसिद्ध योगी माने जाते हैं, उनके जीवन-वृत्तान्त में लिखा था कि **'मेरे गुरु जी ने मेरे सिर पर हाथ रखा और कहा कि व्याकरण को पढ़ना छोडो। योग के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं है'**। इस प्रकार के लेखों और उपदेशों से वेद के प्रति घोर विरोध बढ़ता जा रहा है। इसका परिणाम होगा अज्ञान, अधर्म की प्रवृद्धि, जिसकी चर्चा मैंने अभी की थी कि गुरुजी ने सिर पर हाथ धरके कहा कि योगी बनने

के लिए व्याकरण के पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अनेक शिष्य-प्रशिष्यों की टोली बन चुकी है, और उस टोली में अनेक लोग ऐसे भी हैं, जो कि अपने आप को वैदिक-धर्मी भी कहते हैं और स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को आप्त भी समझते हैं। मुझे महान् आश्चर्य होता है कि वे आर्यसमाजी वैदिक धर्मी होते हुए भी वेद-विरुद्ध मान्यताओं के मानने वाले स्वामी योगेश्वरानन्द जी मुनि की रेती वाले को पूर्ण योगी मानकर कैसे अपना गुरु बना बैठे ? जिनको वे सच्चा गुरु मानते हैं उनकी और ऋषि दयानन्द जी की मान्यताएँ परस्पर विरुद्ध हैं। जैसे स्वामी दयानन्द जी जीव की सत्ता को ईश्वर और प्रकृति से भिन्न मानते हैं और वे जीव की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। ऋषि दयानन्द जी वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, और वे ऋषियों के हृदय की उपज मानते हैं। ऋषि दयानन्द जी ईश्वर में अनेक गुण मानते हैं। परन्तु उनकी मान्यता है कि ईश्वर में कोई गुण ही नहीं है। इन दोनों मान्यताओं में एक सत्य और एक असत्य हो सकती है, दोनों सत्य नहीं। अतः मैं उन आर्य-बन्धुयों से यह कहना चाहता हूँ कि आप वेद-विरुद्ध टोली में सम्मिलित होकर एक नया सम्प्रदाय न बनावें। क्योंकि इसका परिणाम सबके लिये हानिकारक ही होगा।

इसी विषय में योग-दर्शनकार कहते हैं कि **तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्** (योग द० १।२५), **स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** (योग द० १।२६) अर्थात् उस परमात्मा में सर्वज्ञता का बीज है = वह सर्वज्ञ है। दूसरे सूत्र में यह कहा है कि वह ईश्वर सब गुरुओं का भी गुरु है और काल से कभी नष्ट नहीं होता। यहां पर यह बात ध्यान देने की है कि ऋग्वेदादि चार पुस्तक रूप में प्रदत्त ज्ञान तो वेद है ही, साथ ही समाधि में जो ज्ञान सीधा ईश्वर से प्राप्त होता है, वह भी वेद कहाता है। जहां पुस्तक रूप वेदों का अध्ययन योगी बनने के लिये आवश्यक है वहां योग (समाधि) की उच्चतर व उच्चतम अवस्थाओं को प्राप्त करने के लिये समाधि में ईश्वर द्वारा सीधा दिया गया ज्ञान (वेद ज्ञान) भी आवश्यक है।

ईश्वर योग्य जीवात्मा को पात्र जानकर ज्ञान देता है व अपने स्वरूप का साक्षात्कार करा देता है। निष्कर्ष यह है कि योग में प्रवेश व प्रगति के लिये वेदाध्ययन करना आवश्यक है और ईश्वर साक्षात्कार व जीवनमुक्त

जैसी ऊंची अवस्थाओं को प्राप्त करने के लिये ईश्वर द्वारा साक्षात् प्रदत्त वेद ज्ञान भी आवश्यक है। यह मान्यता गलत है कि बिना वेदाध्ययन के योगी बन जाता है।

प्रश्न – कुछ लोगों को इस जन्म में बिना वेद पढ़े भी योग का ज्ञान हो जाता है।

उत्तर – जिसको भी जितना योग का ज्ञान होता है, वह वेद के अध्ययन से ही होता है। चाहे इस जन्म में पढ़े हों, चाहे पूर्वजन्म में। मनुष्य अनेक जन्म-जन्मान्तरों से गुरुओं अथवा परमात्मा से वेद को पढ़ता-पढ़ाता चला आया है। इसी कारण से इस जन्म में विशेष अध्ययन किये बिना भी किसी-किसी को पूर्वजन्म के कारण योग के विषय में ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार आज-कल बिना पढ़े कोई भी विद्वान् नहीं बनता, उसी प्रकार बिना ईश्वर के वेद-ज्ञान दिये कोई भी विद्वान् नहीं बन सकता। और बिना विद्या के कोई योगी भी नहीं बन सकता।

प्रश्न – इस मिथ्या धारणा का कारण क्या है ?

उत्तर – कुछ कारण तो निम्न हैं-कुछ लोग योगाचार्य बनकर संसार के लोगों को भ्रम में डालकर ठाठ से रहना चाहते हैं, और वेद के विषय में वे जानते नहीं। अतः वे वेद का खण्डन करते हैं। यदि वे वेद का खण्डन न करें तो उनके शिष्य-प्रशिष्य नहीं बन सकते। दूसरे लोग इसलिए खण्डन करते हैं कि उनका वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में विश्वास नहीं है। तीसरे लोग इसलिए खण्डन करते हैं कि कौन पठन-पाठन में परिश्रम करे। इस प्रकार के अनेक कारण हैं कि जिससे योगी बनने के लिए वेदाध्ययन का खण्डन किया जाता है। इस लेख के उपसंहार में यह भी कहना है कि जहाँ पर अपनी बुद्धि सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकती, वहाँ पर वेद और आप्तपुरुषों के वचनों का प्रमाण मान के चलना चाहिए। अतः बिना वेदाध्ययन के योगी बनने की धारणा निराधार होने से इसका बहिष्कार होना अत्यावश्यक है।

✤ ✤ ✤ ✤ ✤

३

पूर्ण अहिंसासिद्ध योगी के प्रति क्या समस्त प्राणी वैरभाव छोड़ देते हैं ?

योग में तीसरी भ्रान्ति यह है कि जब योगी पूर्णरूपेण अहिंसा का पालन करता है, तब समस्त संसार के प्राणी उसके प्रति वैरभाव का परित्याग कर देते हैं। इस उपरिलिखित मान्यता पर प्रमाण और युक्तियों से विचार किया जाता है कि यह भ्रान्तियुक्त है वा नहीं ? योग-दर्शन के दूसरे पाद के ३०वें **अहिंसासत्यऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** (योग० द० २।३०) सूत्र में अहिंसादि पांच यमों को पढ़ा है। इस सूत्र की व्याख्या में व्यास जी अहिंसा का स्वरूप लिखते हैं-'**तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः**' उनमें अहिंसा है-सब प्राणियों के प्रति वैरभाव का त्याग करना। योगदर्शनकार पतञ्जलि मुनि जी अहिंसा का फल लिखते हैं कि-**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः** (योग द० २।३५) इस सूत्र का अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में लिखा है कि-"**(अहिंसाप्रति०)** अर्थात् जब अहिंसा धर्म का निश्चय हो जाता है तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है"। स्वामी जी महाराज का यह अभिप्राय है कि जब अहिंसा-धर्म का निश्चय हो जाता है तो उस मनुष्य का समस्त प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है और उसके पास में रहने वाले पुरुष का भी उसकी अपनी स्थिति के अनुसार अर्थात् उसके पूर्वजन्मों वा इस जन्म के संस्कारों के अनुसार तथा सत्संग से वैरभाव का परित्याग होगा। किन्तु सबका समान रूप से कभी भी नहीं हो सकता। किसी का ५०% वैर छूटेगा, किसी का २०% और किसी का १०% वैरभाव छूटेगा। परन्तु कोई इस प्रकार का भी होगा जिसका एक प्रतिशत भी वैरभाव न छूटेगा। इतना ही नहीं कुछ लोग तो उस अहिंसा का पूर्ण पालन करने वाले के प्राण ही ले लेते हैं। इसमें इतिहास साक्षी है। जिन लोगों ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है कि समस्त संसार

के प्राणी योगी के प्रति वैरभाव का परित्याग कर उसके मित्र बन जाते हैं, वह निराधार है । इसलिए सूत्र का यही अर्थ ठीक है कि अहिंसा का पालन करने वाले का समस्त प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है । परन्तु सब प्राणियों का वैरभाव योगी के प्रति न कभी छूटा, न आज छूटा हुआ है और न कभी छूटेगा ।

एक बहुत बड़े योगी माने जाते हैं, जिनको कुछ वैदिकधर्मी भी योगी मानते हैं । जिनकी मान्यता यह है कि जीव की कोई सत्ता नहीं है । उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है, उनके लगभग ये शब्द है कि महात्मा गांधी को इसलिए गोली से मार दिया गया कि वे पूर्ण अहिंसा के पालक नहीं थे । यदि वे पूर्ण रूपेण अहिंसा के पालक होते तो गोली से मारने वाले के हाथों से बन्दूक छूटकर नीचे गिर जाती । यहाँ पर मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि महात्मा गांधी जी अहिंसा के पूर्ण पालक थे । मैं इस विषय में यहाँ पर विचार नहीं कर रहा हूँ । मेरा अभिप्राय यह है कि पूर्ण अहिंसा के पालन करने वाले को कोई बन्दूक से मारने जाय और उसके हाथ से बन्दूक भूमि पर गिर जाये, यह बात अज्ञान से कल्पित है । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को संसार के अनेक विद्वान् योगी मानते हैं, और मैं भी उनको योगी मानता हूँ । उनको योग की ऊंची स्थिति सिद्ध होने के पश्चात् भी अनेक लोगों ने उनको समाप्त करने के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा अनेक बार शत्रुता-पूर्ण व्यवहार किया । और अन्त में उनके शरीर को संसार से मिटा दिया । क्या उनकी अहिंसा सिद्ध नहीं थी ? क्या वे योग की प्रथम सीढ़ी पर भी अपना कदम न रख सके थे ? क्यां वे वैरभाव का त्याग न कर पाये थे ? यदि वे अहिंसा का भी पालन न कर सके थे, जो कि योग की प्रारम्भ की क्रिया है, जहाँ से उपासना का प्रारम्भ होता है, तो पुनः इतने विद्वानों का उनको योगी मानना निराधार सिद्ध होगा । दूसरा उदारहरण देखिए-श्री कृष्ण जी को भी अनेक लोग पूर्ण योगी मानते हैं । परन्तु उनके पूर्ण अहिंसक होने पर भी दुर्योधन का वैरभाव क्यों नहीं छूटा ? यादव-वंश का सत्यनाश हो गया, परस्पर लड़-झगड़कर । श्री कृष्ण जी के संग से उनका वैरभाव क्यों नहीं छूटा ? इसी प्रकार श्री व्यास जी को लोग योगी मानते हैं, और ऋषि दयानन्द जी ने भी उनको योगी माना है । उनके अहिंसक होने पर पाण्डवों और कौरवों का युद्ध क्यों हुआ ? क्या वे योग की प्रथम श्रेणी में भी प्रवेश न कर

पाये थे ? पञ्चतन्त्र में विष्णु शर्मा ने एक श्लोक दिया है, वह यह है कि -

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्, प्राणान्प्रियान्पाणिनेः ।
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा, हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम् ।
अज्ञानवृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ।।

(पञ्चतन्त्र)

श्लोक का अभिप्राय है कि-पाणिनि जी को शेर ने मार डाला, जैमिनि जी को हाथी ने मार दिया और पिंगलाचार्य को मगरमच्छ ने समाप्त कर दिया । तो क्या इनका वैरभाव नहीं छूटा था ? इनको संसार के मूर्धन्य विद्वान योगी मानते हैं । यदि इस मिथ्या धारणा को मान लिया जाय कि **'योगी के प्रति सब प्राणी वैरभाव छोड़ देते हैं'** तो इन महापुरुषों में से एक भी योगी सिद्ध न हो सकेगा । वेद में परमात्मा को अहिंसक कहा है ।यथा- **"युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं०** (ऋग्० १। ११ ।१)-**(अरुषम्)** अहिंसकं करुणामयम् **(अरुषम्)** अहिंसादि दोषरहित (ऋ० भू० उपासना विषय) । **(रुष् हिंसायाम्)** रुष् धातु हिंसार्थक है । उसका यहाँ पर निषेध किया है, कि परमात्मा हिंसारहित है । परमात्मा न कभी वैर रखता था, न आज किसी से वैरभाव है और भविष्यत् काल में भी किसी से वैरभाव न करेगा । किन्तु संसार में देखने से यह सिद्ध होता है कि परमात्मा के प्रति समस्त संसार के प्राणियों का न वैरभाव छूटा और न छूटेगा । कितने लोग तो संसार में इस विचार के हैं कि जो उसकी सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते । कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो कि परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले को मौत के घाट उतार देते हैं । कुछ लोग ऐसे भी हैं जो परमात्मा के प्रति दांत पीसते हैं कि उसने मेरा जवान बेटा क्यों मारा ? मेरी खेती नष्ट करने के लिए ओले क्यों बरसाये ? हमारे घरों के विनाश के लिए बाढ़ क्यो चलाई ? यदि वह परमात्मा मेरे हाथ लग जाये तो मैं उसका विनाश कर दूं ।

जब परमात्मा स्वयं सदा वैररहित है और वेद में उपदेश दिया है कि **"दृते दृंह मा. मित्रस्य चक्षुसा समीक्षामहे"** (यजु० ३६।१८) सब प्राणी परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें । और परस्पर भाई-बहिन के लिये भी उपदेश किया है कि - **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।** (अथर्व० ३।६।३०)

अर्थात् भाई भाई के प्रति और बहिन बहिन के प्रति वैरभाव न रखें । परन्तु

लोक में परिज्ञात है कि न तो परमात्मा के प्रति सब प्राणियों का वैरभाव छूटा और न उसके उपदेश से सब प्राणियों ने वैर का त्याग किया । जब परमात्मा के तीन काल में वैर-रहित होने पर भी सब जीव वैर का परित्याग नहीं कर सकते, तो योगी की क्या कथा है ? क्योंकि योगी तो कभी हिंसक भी होता है अर्थात् जब जीव योगाभ्यास कर योगी बन जाता है, तब वैररहित होता है । और वही जीव जब योग का परित्याग कर अज्ञान, अधर्म में प्रवृत्त होता है तब हिंसक बन जाता है । जिस अवस्था में योगी है उस अवस्था में वैररहित और जिस अवस्था में त्यागी है उस अवस्था में वैरसहित होता है । परन्तु ईश्वर तो सर्वथा, सर्वदा, पूर्णरूपेण अहिंसक ही होता है । न कभी वैरभाव था, न होगा । जब परमात्मा के प्रति भी सब जीव वैर का त्याग नहीं कर सकते, तो योगी के प्रति कैसे त्याग कर सकेंगे ? प्रमाण और युक्तियों से यही सिद्ध होता है कि पूर्ण अहिंसा के पालन करने वाले के प्रति सब प्राणी वैरभाव का परित्याग कभी भी नहीं कर सकते । इसलिए इस मिथ्या धारणा का परित्याग कर और वास्तविकता को स्वीकार करना सब सज्जनों का कर्त्तव्य है ।

४

क्या तर्क योग में बाधक हैं ?

योग में चौथी भ्रान्ति यह है कि तर्क योग में बाधक है ।

आजकल अनेक लोग जो कि योगाचार्य कहाते और उनके शिष्य इस बात का विशेष प्रचार करते हैं कि योग के जिज्ञासु को तर्क कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि तर्क करने वाला कभी योगी नहीं बन सकता । इस लेख में प्रमाण और युक्तियों से इस पर विचार किया जायेगा कि उपरिलिखित मान्यता में वास्तविकता है वा नहीं ?

न्यायदर्शन के रचयिता गौतम ऋषि ने सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की सिद्धि मानी है । यथा -

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन० (न्याय० १।१।१)

उन सोलह में एक तर्क भी है । यदि मनुष्य को तर्क के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान न हो और वह उस तर्क का प्रयोग भी न करे तो गौतम

ऋषि के मत में मुक्ति का भागी नहीं हो सकता। उपासना के आठ अंगों

के अनुष्ठान से मुक्ति की सिद्धि होती है और सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से भी मुक्ति मिलती है। अतः योग में तर्क बाधक कभी नहीं हो सकता। न्याय दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने **प्रमाणप्रमेय०** (१।१।१) सूत्र में द्वन्द्वसमास माना है। द्वन्द्वसमास में प्रत्येक पद का अर्थ प्रधान होता है। इसलिये इस प्रथम सूत्र में तर्क पद का भी अर्थ प्रधान है और प्रधान होने से योग का साधक होगा बाधक नहीं। गौतम ऋषि तर्क की परिभाषा निम्न प्रकार करते हैं-**अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः** (न्याय० १। १। ४०) जिस वस्तु का वास्तविक स्वरूप ज्ञात नहीं है उस वस्तु के स्वरूप-ज्ञान के लिये प्रमाण की संगति से ऊहा अर्थात् विचार करना तर्क कहाता है। प्रत्येक योगाभ्यासी को वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिये पदे-पदे तर्क का प्रयोग करना पड़ता है। योगदर्शन के तीसरे पाद में **"एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याता"** (योग ३।१३) यहाँ पर कहे गये धर्म, लक्षण, अवस्था, परिणाम बिना तर्क के नहीं जाने जा सकते।

सांख्य-दर्शनकार ने पुरुष और प्रकृति के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है कि पुरुष प्रकृति से भिन्न क्यों है ? विज्ञानवाद, क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि अनेक मिथ्यामतों का तर्क के द्वारा खण्डन किया है। यदि कपिलाचार्य तर्क से काम न लेते तो पुरुष और प्रकृति के स्वरूप का परिज्ञान न कर सकते; न करवा सकते थे। उसके बिना योग की सिद्धि नहीं हो सकती। कपिलाचार्य ने अपने दर्शन में इस बात को तो स्वीकार किया है कि-**"अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्"** (सां० १।२६) अर्थात् युक्ति-विरुद्ध कथन को स्वीकार नहीं किया जा सकता। न्यायदर्शन (१।१।१) सूत्र के सोलह पदार्थों में एक वाद भी है। गौतम ऋषि ने वाद का लक्षण निम्न प्रकार किया है-

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः(न्याय० १।१।१)

इस सूत्र में तर्क का ग्रहण किया है। यदि तर्क का परित्याग कर कर दिया जाय तो वाद का लक्षण नहीं बन सकता, उसमें दोष आ जायेगा। वाद के बिना सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता और सत्यासत्य के ज्ञान के बिना योगाभ्यास सम्भव नहीं है।

व्यास ऋषिका यह कथन है कि "ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्" (योग० १।१६ व्यासभाष्य) जिसमें आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का अच्छे प्रकार से ज्ञान होता है, उसी अवस्था में वैराग्य होता है। यहां पर वास्तविक ज्ञान को ही वैराग्य कहा गया है। कारण और कार्य में अभेद मानकर ऐसा किया है। वास्तव में ज्ञान कारण है और वैराग्य उसका कार्य है। अतः ज्ञान और वैराग्य दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इसी वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। यह वैराग्य बिना वाद के नहीं हो सकता और वाद के अन्दर से तर्क को निकाल दिया जाय तो उसमें वाद का लक्षण नहीं घट सकता। यदि न्यायदर्शन से वाद निकाल दिया जाय तो तत्त्वज्ञान होना संभव नहीं और ज्ञान के बिना मुक्ति कभी नहीं हो सकती। इसमें कपिल का यह कथन है कि-**ज्ञानान्मुक्तिः** (सां० ३।२३) अतः यह कथन कि योग में तर्क बाधक है, निराधार सिद्धहोता है। मनु महाराज ने भी धर्माधर्म के जानने में तर्क को अत्यन्तोपयोगी माना है-

आर्षधर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।। मनु० १२।१०६

इस श्लोक का अर्थ निम्न प्रकार है-ऋषि-प्रणीत वाक्य और धर्मोपदेश को जो वेदशास्त्रानुकूल तर्क के द्वारा निर्णय करता है वही धर्म को जानता है, अन्य नहीं। ऋषि दयानन्द जी महाराज धर्म से मुक्ति और अधर्म से बन्धन मानते हैं। और वैशेषिक दर्शनकार कणाद ऋषिने भी उसी को धर्म माना है जिससे अभ्युदय और मोक्ष की सिद्धि हो-**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशे० १।१।२)** उपासना के आठ अंग भी धर्म हैं। इनके अनुष्ठान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इनका परिज्ञान भी बिना तर्क के कभी नहीं हो सकता। हाँ! यह निश्चित है कि वह तर्क वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों के विरुद्ध नहीं होना चाहिये। संसार में प्रायः लोगों को भ्रम इसीलिये होता है कि वे तर्क और कुतर्क के भेद को नहीं समझते।

व्याकरण-महाभाष्य में व्याकरणाध्ययन के अठारह प्रयोजन बतलाये हैं। उनमें से पांच को मुख्य माना है। उनमें से एक 'ऊहा' है, जो वेद-मन्त्रों के अर्थ करने में उपयोगी है, जब ऊहा अर्थात् तर्क वेद मन्त्रों के अर्थ करने में उपयोगी है, तो वह योग में बाधक कैसे हो सकता है? यह बात पूर्व लेख में लिखी जा चुकी है कि बिना वेदज्ञान के कोई भी सच्चा

योगी नहीं बन सकता । मीमांसा-दर्शनकार ने भी नवमाध्याय में ऊहा का महत्त्व दर्शाया है जो कि सामगायन के लिये आवश्यक है । सामवेद उपासना से अधिक सम्बन्ध रखता है । जब साम-गायन में भी 'ऊहा' उपयोगी है, तो पुनः योग में बाधक कैसे हो सकता है ?

योगर्शन में तर्क का प्रयोग-**परिमाणैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्** (योग० ४।१४) इस सूत्र के व्यासभाष्य में कहा है कि-"**नास्त्यर्थो विज्ञान-विसहचरः**" अर्थात् विज्ञान से पृथक् रहने वाला कोई वस्तु तत्त्व नहीं है । इस विज्ञानवाद का व्यास जी ने खण्डन किया है । अगले सूत्र के अवतरण में लिखते हैं कि-'**कुतश्चैतदन्याय्यम्**' यह अन्याय (विरोध) कैसा है ? **वस्तुसाम्येचित्तभेदात्त-योर्विभक्तःपन्थाः** (योग० ४।१५) । इस सूत्र का भाव यह है कि वस्तु एक होने पर भी कोई उस वस्तु से सुख की अनुभूति करता है और कोई उसी वस्तु से दुःख की अनुभूति करता है । अतः ज्ञान और वस्तु परस्पर भिन्न हैं, केवल विज्ञान मात्र नहीं है । यहाँ पर व्यास जी ने तर्क के द्वारा विज्ञानवाद का खण्डन किया है । जो लोग एक चित्त के आधीन वस्तु को मानते हैं, उनका योगदर्शनकार खण्डन करते हैं कि "**न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्**" (योग०४।१६) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि किसी एक चित्त के आधीन वस्तु नहीं है । यदि एक चित्त के आधीन वस्तु हो और वह चित्त कहीं दूसरे स्थान में लगा हुआ हो तो वह अप्रमाणिक हो जाय ।सूत्रकार और व्यास जी ने एक चित्त के आधीन वस्तु को मानने वालों का तर्क द्वारा खण्डन किया है ।

इसी प्रकार से योगदर्शन के सूत्रों और व्यास-भाष्य में अनेक मिथ्या मतों का खण्डन तर्क के आधार पर किया है । बिना तर्क के नास्तिक-वाद का खण्डन नहीं हो सकता और नास्तिक-वाद के खण्डन किये बिना कोई भी योगी नहीं बन सकता । इस वर्तमान समय में तर्क का विरोध करने वाले तत्त्वज्ञान से वञ्चित हैं और अपने शिष्यों को भी अज्ञान की ओर धकेल रहे हैं । लाखों, करोड़ों लोग तर्क का खण्डन करने वाले और अपने आप को ईश्वर का भक्त मानने वाले वृथा जीवन खो रहे हैं । उनका तन, मन, धन और समय योग के नाम से व्यय होता है । परन्तु तर्क का विरोध करने का परिणाम यह है कि वे दुःख-सागर में डूबे हुए हैं । अत्यन्त आश्चर्य की बात यह है कि योग के फल से वञ्चित होने पर भी अपने आप को सफल मान रहे हैं ।

प्रश्न - तर्क के योग में साधक होते हुये भी लोग इसका खण्डन क्यों करते हैं ?

उत्तर - इसमें अनेक कारण हैं। उसमें कुछ को यहाँ पर लिखा जाता है। **प्रथम कारण** यह है कि आज संसार में अनेक लोगों ने अपने आप को झूठ-छलादि से योगी सिद्ध कर अपनी पूजा करवा रखी है। उनकी मान्यता और उनका योग सत्यता से विपरीत है। यदि कोई इनकी मान्यता में तर्क उठायें तो उनका बनाबनाया भवन ढह जाये। अतः वे तर्क का खण्डन करते हैं। वे यह जानते हैं कि यदि तर्क का प्रयोग किया गया तो सारा ठाठ-बाट धूलि में मिल जायेगा।

दूसरा कारण यह है कि कुछ लोगों ने योग का स्वरूप ही नहीं समझा और न ही उनको यह समझ में आया कि तर्क किसको कहते हैं ? इसलिए सुनी-सुनाई बातों को लेकर वे कहते हैं कि तर्क योग में बाधक है। उनको यह स्थिति है कि - तू करे सो मैं करूँ = लकीर के फकीर बने बैठे हैं। योग में तर्क को हेय मानने से उसका प्रयोग बन्द हो गया। इसलिए जिसके मन में आया, वही योगी बन बैठा। उससे कोई कुछ भी नहीं पूछ सकता। क्योंकि तर्क योग में बाधक है। इसका परिणाम यह है कि अज्ञानी, झूठे, आचारहीन लोग योगी बन बैठे और उनकी खूब पूजा होती है।

तीसरा कारण - यह है कि कुछ लोग तर्क का महत्त्व जानते हैं, परन्तु वे परिश्रम से डरते हैं। अतः वे कहते हैं कि तर्क करना ठीक नहीं। तर्क को अवकाश देने पर जो योग के जिज्ञासुओं की शंका का समाधान करने में परिश्रम करना पड़ता है, वह असाधारण कार्य है।

चौथा कारण - यह है कि कुछ लोग योग के विषय में तर्क तो पर्याप्त करते हैं परन्तु उनका आचरण योग से प्रायः विपरीत है। अतः तर्क को हेय समझा जाने लगा है। यदि तर्क करने वाले लोग तर्क के अनुसार योगाभ्यास भी करते तो तर्क को यह आघात नहीं पहुँचता। इस प्रकार तर्क के खण्डन में अनेक कारण हैं, जिनसे तर्क को योग में बाधक माना जाता है। कठोपनिषत् से प्रदत्त **'नैषा तर्केण मतिरानेया'** (कठो० २।९) पाठ का अर्थ न समझने से लोग तर्क का खण्डन करते हैं। इसलिये तर्क के वास्तविक स्वरूप को जानकर योग में उसका प्रयोग करना चाहिये। और योग में तर्क बाधक है, इस मिथ्या धारणा का परित्याग कर देना चाहिये।

५

क्या आसन लगाकर गुरु जी द्वारा सिर पर हाथ रखने वा संकेत-मात्र से समाधि सिद्ध होती है ?

योग में पांचवीं भ्रान्ति यह है कि योगाचार्य कहे जाने वाले लोग अपने शिष्यों का आसन लगवाकर उनके सिर पर हाथ धर देते हैं। अथवा आसन लगवाकर हाथों से संकेत करते हैं, तथा मनोबल से उनके पास ज्ञान प्रेषित करते हैं। जिससे योग-जिज्ञासुओं की समाधि सिद्ध हो जाती है। और उससे परमात्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है। जिज्ञासु लोग यथेष्ट आनन्द का उपभोग करते हैं। इस योग की पद्धति में न तो वेद के अङ्गोपाङ्ग पढ़ने पड़ते और न उपनिषद्, ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा वेदोपवेद का अध्ययन करना आवश्यक है। और जो असि-धारा के तुल्य यमनियमादि का पालन करना पड़ता है, उसके बिना ही गुरुजी की कृपा से समाधि सिद्ध हो जाती है। यह उपरिलिखित मान्यता क्यों मिथ्या है ? इसको प्रमाण और युक्तियों से सिद्ध किया जायेगा।

पतञ्जलि ऋषि ने योग-दर्शन के प्रथम पाद में योग का लक्षण किया है कि **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (योग० १।२)। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। इसके पश्चात् प्रमाणादि पाँच वृत्तियों के नाम और उनके लक्षण बतलाये हैं। पुनः कहा है कि **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'** (योग० १।१२) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वृत्तियों का निरोध होताहै। चित्त को वृत्तिरहित रखने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है अर्थात् यम-नियमादि का अनुष्ठान अभ्यास कहाता है। **'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्'** (योग० १।१६ पर व्यासभाष्य) बिना ज्ञान और अभ्यास के वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता। वृत्तिनिरोध के बिना समाधि सिद्धि नहीं हो सकती। जब वृत्तियों के स्वरूप के परिज्ञान, उनको वश में लाने के लिये अभ्यास और वैराग्य अनिवार्य साधन हैं, तो यह मिथ्या मान्यता क्यों नहीं-कि सिर पर हाथ धरने मात्र से समाधि सिद्ध हो जाती है।

योगदर्शन के दूसरे पाद के प्रथम सूत्र **तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः** में सामान्य लोगों के लिये दैनिक क्रियायोग बतलाया है। समाधि की सिद्धि के लिए मनुष्य प्रतिदिन तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान करें। **तपोद्वन्द्वसहनम्** (योग० २।३२ पर व्यासभाष्य)–नाना प्रकार की बाधाओं के आने पर भी धर्माचरण को न छोड़ना 'तप' कहाता है। ओमादि पवित्रताकारक वचनों का जप करना और मोक्ष-शास्त्र अर्थात् वेद-वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों का अध्ययन करना 'स्वाध्याय' कहाता है। मनसा, वाचा, कर्मणा जो भी क्रियायें की जाती हैं, उन सबका परम गुरु ईश्वर के समर्पण करना तथा उन क्रियाओं के फल की इच्छा न करना 'ईश्वर-प्रणिधान' है। ये कर्म समाधि-सिद्धि के लिए करने पड़ते हैं। इसी सूत्र के भाष्य में व्यास ऋषि जी लिखते हैं कि **"नाऽतपस्विनो योगः सिद्ध्यति"** – जो मनुष्य तपस्वी नहीं है, उसकी समाधि सिद्ध नहीं होती। अनेक जन्म-जन्मान्तर की वासनायें मन में विद्यमान हैं और इस जन्म की भी अनेक वानसाएं हैं। वे बिना तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान के दूर नहीं हो सकतीं।

योगदर्शन के दूसरे पाद में दुःख और दुःख का कारण, सुख तथा सुख का उपाय बतलाते हुए कहा है कि –**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः** (योग० २। २६)। न डिगने वाली विवेकख्याति मोक्ष का उपाय है। इस विवेकख्याति की प्राप्ति का क्या उपाय है, इसका उत्तर आचार्य यह देते हैं कि–**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः** (योग० २। २८) योग के आठ अंग हैं, उनका अनुष्ठान करने से ज्ञान की वृद्धि विवेकख्याति पर्यन्त हो जाती है। अब बुद्धिमान् लोग इस पर विचार करें कि समाधि की सिद्धि आठ अंगों के आचरण से होती है अथवा गुरुजी के सिर पर हाथ धरने मात्र से। सिर पर हाथ धरके पतञ्जलि ऋषि ने दूसरों की समाधि क्यों नहीं लगवाई ? कपिलाचार्य ने तीन प्रकार के दुःखों से छुड़ाने तथा समाधिसिद्धि के लिये अनेक उपाय बतलाये हैं। उन्होंने कहीं पर भी यह नहीं कहा कि सिर पर हाथ धरने से समाधि सिद्ध होती है। जहां पर वृत्तियों के निरोध का प्रकरण आया है, वहां पर कहा है कि–**वैराग्यादभ्यासाच्च** (सां० ३। ३६) अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध होता है। सांख्य के अध्याय चार में लिखते हैं–**'नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत्** (सां० ४। १७) **दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य'** (सां० ४। १८) केवल उपदेश-श्रवण मात्र

से भी सफलता प्राप्त नहीं होती, बिना मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार के जैसे कि विरोचन को सफलता नहीं मिली। विरोचन और इन्द्र ने श्रवण किया, परन्तु इन्द्र ने मनन, निदिध्यासनादि भी किया तो उसको सफलता प्राप्त हुई। इससे स्पष्ट है कि सिर पर हाथ धरकर समाधि-सिद्धि की पद्धति निराधार है। क्योंकि केवल उपदेश सुनने पर भी सफलता नहीं मिलती। **प्रणतिर्ब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत्** (सां० ४। १९) इस सूत्र में उन कर्मों का वर्णन है, जो समाधि के लिये अनिवार्य हैं। जैसे कि-निरभिमानता, ब्रह्मचर्य का पालन, सच्चे गुरुओं का संग और उनकी सेवा करने से समाधि की सिद्धि हो सकती है। न्यायदर्शनकार गौतम ऋषि भी सिर पर हाथ धरने की अन्धपरम्परा को नहीं मानते। वे अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्ति के उपाय बतलाते हैं कि **तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः** (न्याय० ४। २। ४६)-इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि यम-नियमों के द्वारा आत्मा को शुद्ध किया जाय और जो भी योगदर्शन में अन्य उपायों का वर्णन हैं, उनके द्वारा अपवर्ग=मोक्ष की सिद्धि हो सकती है। इससे अगले सूत्र में कहते हैं-**ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः** (न्याय० ४। २। ४७) ज्ञान अर्थात् आत्मविद्याशास्त्र का ज्ञान और उसका धारण करना तथा ज्ञानानुसार कर्म करना और आत्मज्ञान के जानने वालों के साथ संवाद करना इत्यादि उपायों से मनुष्य समाधि को सिद्धकर पुनः अपवर्ग का भागी बनता है।

मनु जी कहते हैं-

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (मनु० २। १८)

इस श्लोक का अर्थ ऋषि दयानन्दकृत निम्न प्रकार है-

"**(स्वाध्याय)** सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने **(व्रत)** ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि नियम पालने **(होमैः)** अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सत्य-विद्याओं का दान देने **(त्रैविद्येन)** वेदस्थ कर्मोपासना, ज्ञान-विद्या के ग्रहण **(इज्यया)** पक्षेष्ट्यादि करने **(सुतैः)** सन्तानोत्पत्ति **(महायज्ञैः)** अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर किया जाता है। इतने साधनों के बिना ब्राह्मण का शरीर नहीं बन सकता। (सत्यार्थ० प्र० ३ रा समु०)

हाथ धरने की बात तो दूर रहने दीजिये, इस विद्या को सुनने मात्र से भी अविद्या दूर नहीं हो सकती। इसको महर्षि कपिल कहते हैं कि-
न श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् (सांख्य० २। ३) प्रकृति के दोष सुन लेने मात्र से ही मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि भोग-विषयक अनादि वासना बलवती होती है। जो लोग अपने शिष्यों को गुरुजी की कृपा से, और मनोबल से खान-पान आचारादि कैसा ही क्यों न हो, फिर भी समाधि-सिद्धि करवाने का ठेका ले बैठे हैं, वे मन्वादि ऋषियों के विपरीत हैं। अतः उनकी कल्पित मान्यता अत्यन्त हानिकारक है। जब से इस मान्यता का प्रचार हुआ है, तब से लोग अज्ञानी, आचारहीन और परोपकार-शून्य होकर भी अपने आपको सच्चा योगी मानने लगे हैं, इससे यह परिणाम निकला कि जनता में योगियों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो गई। और उनके बतलाये हुये उपायों का भी परित्याग करने लगे। दूसरा परिणाम यह निकला कि अन्धविश्वासी लोग चाहे जिस किसी मूर्ख वा स्वार्थी, छली-कपटी मनुष्य को योगी मानकर उसकी पूजा करने लगे। एक दिन दिल्ली के घण्टाघर के पास से एक नग्न, वस्त्रहीन व्यक्ति सड़क पर चला जा रहा था और उसके पीछे चारों ओर पढ़े-लिखे लोग उसके आदर-सत्कार के लिये संलग्न थे। उनसे कोई पूछे कि यह नग्न व्यक्ति कौन है? तो वे यही उत्तर प्रायः देते हैं कि ये पूर्ण योगी है। इनमें किसी प्रकार का अज्ञान व अधर्म नहीं है। जो इनकी कृपा का पात्र बन जायेगा, उसका कल्याण हो जायेगा। इन अन्धविश्वासियों की दृष्टि में जो कोई वस्त्र न पहने वही पूर्ण सिद्ध है। अज्ञानी लोगों ने अयोग्य मनुष्यों को तन, मन और धन से बहुत ही प्रोत्साहन दे रखा है। अतः यह झूठी गुरुपरम्परा पनपती चली जा रही है और इसी के कारण विश्व का अधःपतन होता चला जा रहा है।

प्रश्न-आप क्या गुरु-परम्परा को नहीं मानते?

उत्तर-मैं सच्ची गुरु-परम्परा को मानता हूँ, झूठी को नहीं। जो वेद के पढ़ने-पढ़ाने वाले, यम-नियमादि का पालन करने वाले, सत्यवादी, पक्षपातरहित और ईश्वर को गुरुओं का गुरु मानते हैं, उनको मैं भी गुरु मानता हूँ। परन्तु जो लोग सिर पर हाथ धरने मात्र से समाधि की सिद्धि मानते हैं और वेद के पढ़ने-पढ़ाने का खण्डन करते और यम-नियम, वैराग्य की

आवश्यता नहीं समझते तथा गुरु को स्थान परमात्मा से भी अधिक समझते हैं, और ईश्वर के स्थान पर अपनी उपासना करवाते हैं, वे गुरु मानने के योग्य नहीं हैं। अतः ऐसे लोगों को गुरु मानना अपने पैरों में कुठाराघात करना है।

प्रश्न–क्या सच्चा योगी भी किसी अज्ञानी, अधर्मी के सिर पर हाथ धर वा मनोबल से उसकी समाधि नहीं लगवा सकता ?

उत्तर–कभी भी नहीं लगवा सकता। क्योंकि यदि सच्चा योगी किसी अयोग्य मनुष्य की भी इस विधि से समाधि लगवा देता तो कपिलाचार्य को ये सूत्र न बनाने पड़ते। **न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत्** (सां० ४। २९) मलिन चित्त में उपदेश बीज का अंकुर उत्पन्न नहीं होता। जैसे कि अज नामक राजा को नहीं हुआ। **नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत्** (सां० ४। ३०) जिस प्रकार मलिन दर्पण में मुखाकृति नहीं दिखाई देती, उसी प्रकार से अज्ञानी, राग, द्वेष से युक्त चित्त में उपदेश का किञ्चित् भी आभास नहीं होता। मनोबल और सिर पर हाथ धरने से तो समाधि-सिद्धि की क्या कथा है ? कपिलाचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि अयोग्य को शास्त्रों का उपदेश देकर भी उसकी समाधि-सिद्ध नहीं करवाई जा सकती। यदि यह बात सम्भव होती तो कपिलाचार्य कह देते कि सच्चे योगी का हाथ सिर पर धरने से समाधि-सिद्ध हो जाती है। अपने समय में लाखों करोड़ों लोगों को बुलाकर स्वयं उनके सिर पर हाथ रख देते। उससे उन सबकी समाधि सिद्ध हो जाती, और संसार का महान् कल्याण होता। उनको शास्त्र लिखने की भी आवश्यकता न होती। क्योंकि एक योगी जिस किसी के सिर पर हाथ धरे वही योगी बन जाय। इस प्रकार सारे संसार के मनुष्य योगी बनकर मुक्त हो जाते।

महाभारत के समय में व्यास ऋषि योगी थे। ऐसा ऋषि दयानन्द जी ने माना है। महाराज श्रीकृष्ण भी योगी माने जाते हैं। उन्होंने जब युद्ध को रोकने के लिए दुर्योधन को बार-बार समझाया तब भी वह न माना। यदि यह बात (हाथ धरकर सिद्ध होने की) सत्य होती तो दुर्योधन के सिर पर व्यास जी हाथ रख देते, उसकी अज्ञानता दूर हो जाती और समाधि लग जाती और आर्यावर्त देश का विनाश भी न होता। ऋषि दयानन्द जी योगी थे और वे चाहते थे कि संसार में अनेक योगी बनें जिससे अज्ञान, अधर्म का प्रतिकार किया जा सके। यदि यह पद्धति वास्तविक होती तो वे अनेक

लोगों के सिर पर हाथ धरकर योगी बना देते। और आज संसार में जो अविद्या, अन्याय की बाढ़ आ रही है, यह न आती तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको असुरक्षित न देखता। क्योंकि सच्चे योगियों की अधिक संख्या होने पर विद्या, धर्म का विकास और अज्ञान, अधर्म का विनाश होता है। जब-जब संसार में योगियों की न्यूनता होती है तब-तब मनुष्य वा इतर प्राणी अधिक दुःख को प्राप्त होते हैं।

यास्काचार्यजी कहते हैं-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
यमेव विद्यात्शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रु ह्येत कतमच्चनाह, तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

(निरुक्त अ० २ पाद १)

अलङ्कार के रूप में यहाँ कहा गया है कि विद्या ब्राह्मण के पास गई और कहने लगी कि मैं तेरा कोष हूँ, मेरी रक्षा कर। जो मनुष्य निन्दक, अभिमानी और असंयमी हो, उसे मुझे न दो, इससे मैं बलवती रहूँगी। जो मनुष्य पवित्र है, पुरुषार्थी, बुद्धिमान् और ब्रह्मचर्ययुक्त है तथा तेरा द्रोह न करे, उस विद्या-निधि के रक्षक को मुझे दो। इसका अभिप्राय यह है कि अयोग्य व्यक्ति को विद्या पढ़ाई भी नहीं जा सकती। यदि यास्काचार्य जी इस हाथ धरने वाली विधि को मानते तो उनको विद्या देने के लिये पात्र और अपात्र को परीक्षा न करनी पड़ती। जिस किसी पर हाथ रख देते और वह महान् वैज्ञानिक बन जाता। इसलिये यह मिथ्या परम्परा है कि सिर पर हाथ धरने वा मनोबल से जिस किसी की भी समाधि लगवाई जा सकती है।

प्रश्न-इस अन्धपरम्परा के क्या कारण हैं?

उत्तर-कारण तो अनेक हैं परन्तु कुछ कारण निम्न प्रकार हैं-झूठे गुरु अपने शिष्यों को इस प्रकार शिक्षा देते हैं कि हम तेरे सिर पर हाथ रखेंगे। तुम कह देना कि गुरु की कृपा से समाधि लग जाती है। कुछ लोग एक को इस प्रकार कहते हुये देखते हैं कि गुरु जी की कृपा से इसकी समाधि लग जाती है तो हम गुरु जी का हाथ धरवाकर देखें। फिर वे उसी प्रकार से करते हैं। जब उनसे गुरुजी पूछते हैं कि आपकी समाधि लगी? तो वह

सोचता है कि समाधि तो लगी नहीं परन्तु मैं यह सत्य बतलाऊँगा तो गुरु

जी पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा और मुझे अयोग्य समझा जायेगा। इसलिये यही लाभप्रद है कि मेरी भी गुरुजी की कृपा से समाधि सिद्ध हो गई यह कह देता हूँ।

जिस प्रकार एक दृष्टान्त में बतलाया गया है कि एक मनुष्य की नाक काट ली गई। वह सोचने लगा कि तू अकेला तो बहुत ही कुरूप दिखाई देवेगा। अतः उसने यह कहना आरम्भ किया कि मुझे ईश्वर के दर्शन होते हैं। जो भी नाक को कटवायेगा उसी को ईश्वर के दर्शन हो जावेंगे। ईश्वर-दर्शन के प्रलोभन से अनेक लोगों ने अपनी नाक कटवाई। तो नाक कटवाने के पश्चात् इनके कान में उस नकटे ने कह दिया कि अब नाक तो आ ही नहीं सकती। इसलिये तुम भी यह कहना आरम्भ कर दो कि हमको भी ईश्वर के दर्शन होते हैं इस प्रकार नकटे लोगों का झुण्ड इकट्ठा हो गया। उसी प्रकार झूठे गुरुओं ने अज्ञानियों का टोला बनाकर यह प्रसिद्ध कर रखा है कि इनकी गुरु की कृपा से समाधि सिद्ध हो गई है। फिर उनकी पूजा उसी प्रकार होने लगती है, जिस प्रकार उनके गुरुजी की होती है। इस भ्रान्ति का यह भी कारण है कि कुछ लोगों ने इस बात का प्रचार कर रखा है कि ऋषियों की समाधि की पद्धति बहुत ही कठिन है। और हमने नवीन पद्धति योग-सिद्धि की निकाली है कि जिसमें यम-नियमादि की कोई आवश्यकता नहीं है। चाहे कोई शराब पीवे, मांसाहार करे, झूठ बोले, आचारहीनता करे, सब प्रकार के कुकर्म करे तो भी उसकी समाधि सिद्ध हो जाती है। वास्तव में पक्षपातरहित होकर देखा जाय तो ऋषियों की बतलाई पद्धति सत्य और इन नवीन लोगों की पद्धति असत्य है। क्योंकि मनु महाराज ने कहा कि-**'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'** (मनु० २। १३)

जो मनुष्य धन और इन्द्रियों के भोगों में आसक्त है वह धर्म का ज्ञान नहीं कर सकता। ये जितने भी नवीन योग की पद्धति बतलाने वाले हैं; वे सब धन और विषय-भोगों में निमग्न हैं। अतएव धर्माधर्म, सत्यासत्य, योग और अयोग को नहीं जान सकते। परन्तु ऋषियों ने धन और विषयभोगों से ऊपर उठकर योग के वास्तविक स्वरूप को समझा था। अतः उनकी बताई पद्धति ही सबको स्वीकार करनी चाहिये। और इस सिर पर हाथ धरने से समाधि-सिद्धि की मिथ्या मान्यता को छोड़ देना चाहिये।

६

क्या स्वयं को ईश्वर का ज्ञाता कहने वाला ईश्वर को नहीं जानता और निषेध करने वाला जानता है ?

योग में छठी भ्रान्ति यह है कि मनुष्य परमात्मा के विषय में यह कहते हैं कि–जो यह कहता है कि 'मैं परमात्मा को जानता हूँ' वह नहीं जानता और जो यह कहता है कि 'मैं परमात्मा को नहीं जानता' वह उसको जानता है। यह उपरलिखित मान्यता अनेक लोगों के हृदय में पूर्णरूपेण प्रविष्ट हो चुकी है। और वे इसी को ईश्वर को जानने वाले का लक्षण मान बैठे हैं। उनको चाहे कोई कितना ही समझावे पुनरपि इस मान्यता को छोड़ने के लिए उद्यत नहीं हैं। इस मान्यता को स्वीकार करने से बड़े–बड़े अनर्थ हुए हैं। और आगे भी होंगे। उन अनर्थों से मनष्य–जाति की रक्षा की जा सके, इस हेतु से इस विषय में अपने विचार उपस्थित कर रहा हूँ।

परमात्मा के जानने के विषय में अनेक विचारधारायें प्रचलित हैं। कोई कहता है कि वह अनुभव में लाया जा सकता है, परन्तु बतलाया नहीं जा सकता। कोई कहता है कि जो उसको जानता है, वह यह नहीं कह सकता कि मैं उसको जानता हूँ। कोई कहता है कि दूसरे की सेवा करना ही परमात्मा का जानना है। इस प्रकार की और भी मान्यताएँ हैं, जिनमें मनुष्य फंसकर अपने बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ खो रहा है। इस लेख में तो उपरिलिखित एक ही मान्यता पर विशेष विचार किया जायेगा।

अनेक लोगोंने तो इस मिथ्या मान्यता की कल्पना उपनिषद् के इन वाक्यों से की है–

> यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
> अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्।। (केनोप० ११ खं० २)

जब कभी ईश्वर के जानने वालों के लक्षणों की चर्चा प्रारम्भ होती है,

तो अनेक लोग यही लक्षण करते हैं जो मैंने ऊपर लिखा है। परन्तु उक्त श्लोक का वास्तविक अर्थ देखिये-जो यह समझता कि ब्रह्म अवधि-सहित पूर्णरूपेण नहीं जाना जाता, वह ब्रह्म के स्वरूप को जानता है। और जो यह समझता है कि ब्रह्म अवधि-सहित जाना जा सकता है, वह ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानता।

अवधि-सहित ब्रह्म को जाना जाता है, इस मान्यता को मानने वालों का ब्रह्म अज्ञात अर्थात् वे ब्रह्म के स्वरूप को ठीक नहीं जानते। और जो ब्रह्म को अवधि सहित नहीं जाना जाता=एक देश से जाना जाता है, यह मानते हैं-वे ब्रह्म के स्वरूप को ठीक समझते हैं।

कई वर्ष पूर्व की बात है, एक व्यक्तिने एक अच्छे विद्वान् और वक्ता के समक्ष एक योगाभ्यासी की बात बतलाई कि अमुक व्यक्ति यह कहता है कि मुझे परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है, इस बात को सुनकर उस विद्वान् ने झट से यही कहा कि वह झूठा है, जो वह कहता है कि मुझे परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि उपनिषद् में यह लिखा है कि जो कहता है कि मैं परमात्मा को जानता हूँ, वह नहीं जानता और जो यह कहता है कि मैं नहीं जानता, वह जानता है।

एक दिन इसी विषय पर संवाद चल रहा था तो मैंने कहा कि परमात्मा को जानने वाला यह कहे कि मैं परमात्मा को जानता हूँ-तो इसमें कोई दोष नहीं है। मेरे इस वाक्य को सुनकर एक शास्त्री जी ने कहा कि ऐसा कहना सदोष है क्योंकि केनोपनिषद् में लिखा है। शास्त्री जी ने वही लक्षण कर दिया जो उस विद्वान् ने किया था। अब इस विषय में प्रमाण और युक्तियों से विचार किया जाता है।

(क) प्रथम तो यह बात है कि उपनिषद् के 'यस्यामतं०' वाक्यों का यह अर्थ नहीं है, जो अनेक लोगों ने किया है। उक्त श्लोक का यथार्थ स्वरूप हम पूर्व ही दे चुकें हैं, वहीं पर देख लेवें।

केनोपनिषद् के (१० । खं० २) में लिखा है कि (वेद च) जानता हूँ। यदि उन वाक्यों का वही अर्थ मान लिया जाय तो उपनिषद् के वाक्यों में परस्पर विरोध हो जावेगा। एक वाक्य में कहता है कि मैं परमेश्वर को जानता हूँ। और उससे अगले वाक्यों में कहे कि जो यह कहता है कि मैं

परमात्मा को नहीं जानता, वही उसको जानता है-यह परस्पर विरुद्ध है। उपनिषद् के वाक्यों का यह अर्थ वेद के भी विरुद्ध है। क्योंकि वेद में भी इस बात को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि मैं परमात्मा को जानता हूँ। यथा-**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥** (यजु०३१। १८) इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार है-

पदार्थ-हे जिज्ञासु पुरुष! **(अहम्)** मैं जिस (एतम्) इस पूर्वोक्त **(महान्तम्)** बड़े-बड़े गुणों से युक्त **(आदित्यवर्णम्)** सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप (तमसः) अन्धकार व अज्ञान से **(परस्तात्)** पृथक् वर्तमान **(पुरुषम्)** स्वस्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को (वेद) जानता हूँ। **(तम् एव)** उसी को **(विदित्वा)** जानके आप **(मृत्युम्)** दुःखदायी मरण को **(अति एति)** उल्लङ्घन कर जाते हो किन्तु **(अन्यः)** इससे भिन्न (पन्था) मार्ग **(अयनाय)** अभीष्ट स्थान=मोक्ष के लिये **(न विद्यते)** नहीं विद्यमान है। इसी प्रकार एक और मन्त्र में यही बात कही गई है कि मैं परमात्मा को जानता हूँ-

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिम्० (युज० २३। ६०)

पदार्थ-हे जिज्ञासु पुरुष! **(अस्य)** इस **(भुवनस्य)** सबके अधिकरण जगत् के **(नाभिम्)** बन्धन के स्थान कारण-रूप मध्य-भाग परब्रह्म को **(अहम्)** मैं **(वेद)** जानता हूँ।

इन दोनों यजुर्वेद के मन्त्रों में मुख्य रूप से इस बात का कथन है कि विद्वान् जिज्ञासु को यह बतला दे कि मैं उस महापुरुष को जानता हूँ। यदि वास्तव में वही लक्षण योगी का होता, 'जो लोगों ने कल्पित कर रखा है' तो वेद में उससे विपरीत कथन क्यों होता? अर्थात् **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्०** (यजु० ३१। १८) यह कथन न होता।

(ख) नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि० (तै० आ० ७।१) **(त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि)** तू प्रत्यक्ष ब्रह्म है **(त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि)** तुझे मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा।

इन वाक्यों से सिद्ध है कि परमात्मा का जानने वाला यह कहता है कि तू प्रत्यक्ष ब्रह्म है और तुझे मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा।

(ग) जानाम्यहंशेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोग्निरनित्यैर्द्रव्यैर्प्राप्तवानस्मि नित्यम् ।।
(कठो० १० । २)

(अनित्यैः द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्) यमाचार्य कहते हैं कि मैंने अनित्य द्रव्यों से अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मनादि अनित्य साधनों से परमात्मा को प्राप्त कर लिया है । यदि परमात्मा को जानने वाला यह कहता है कि मैं परमात्मा को नहीं जानता, तो ऋषि यह क्यों लिखते कि मैं अनित्य साधनों से नित्य ब्रह्म को प्राप्त कर चुका हूँ ।

(घ) यह मान्यता योग-दर्शन के भी विरुद्ध है । क्योंकि सत्य की व्याख्या करते हुए व्यास जी लिखते है-**"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चे"** (योग० २ । ३० पर व्यास-भाष्य) जैसा देखा और अनुमान से जाना, वैसा वाणी और मन में होना चाहिए, यह सत्य कहाता है । जो लोग यह कहते हैं कि योगी वही है जो यह कहता है कि मैं परमात्मा को नहीं जानता, तो व्यास जी के शब्दों में वह योगी कहलाने वाला मिथ्याभाषी हुआ । क्योंकि उसके ज्ञान में तो यह है कि मैं परमात्मा को जानता हूं और वाणी से कहता है कि मैं परमात्मा को नहीं जानता । क्या मन में कुछ और तथा वाणी में उससे विपरीत होने से वह दुरात्मा की कोटि में नहीं आता ? महात्माओं और दुरात्माओं में यह विशेष अन्तर है कि जो आत्मा के ज्ञानानुसार वाणी बोले वह महात्मा योगी और जो इससे विपरीत बोले वह दुरात्मा अयोगी कहलाता है । योगदर्शनकार ने योगाभ्यासी के लिए यमानुष्ठान अबाधरूप से बतलाया है । **जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्** (योग० २ । ३१) जाति, देश, काल समय इन सभी अवस्थाओं में योगी सत्य ही बोले, झूंठ नहीं । यदि परमात्मा को जानने वाला अपने ज्ञान के विपरीत बोलता है तो वह योगी कैसे हो सकता है ?

प्रश्न-कुछ लोग कहते है कि योग की उच्च अवस्था में जाने के पश्चात् तो झूठ भी बोल सकता हैं, उससे कोई हानि नहीं होती ।

उत्तर-यह मान्यता वेद के विरुद्ध होने से असत्य है और जो लोग अपने झूठ को छिपाना चाहते हैं, वे ही इस बात का प्रचार किया करते हैं । ऋषि दयानन्द जी महाराज ने लिखा है कि जो मनुष्य झूठ चलाना चाहता है, वह
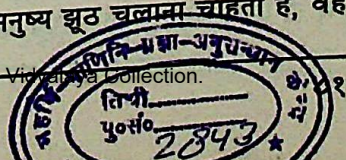
सत्य की निन्दा अवश्य ही करता है। इसी कारण से आज के योगी कहलाने वाले भी सत्य का गला घोंटने को उद्यत हैं। फिर सांसारिकों की क्या कथा है। इसीलिए जो लोग झूठ बोलते और अन्यों से बुलवाते हैं, वे ही ऐसी मान्यता बनाते हैं, कि योगी भी अपने ज्ञान के विपरीत भाषण करता है तो कोई हानि नहीं होती।

प्रश्न-इस मान्यता से क्या हानि होती है ?

उत्तर-प्रथम तो यह हानि है कि यह वेद और वेदानुकूल शास्त्रों के विरुद्ध है। ऊपर के लेख में यह सिद्ध किया था कि जो मनुष्य परमात्मा को जानता है, वह यही कहेगा कि मैं परमात्मा को जानता हूं। इससे विपरीत नहीं। **दूसरी हानि** यह है कि जब लोगों में इस बात का प्रचार होता रहेगा कि परमात्मा को जानने वाले भी अपने ज्ञान के विपरीत बोलते हैं, तो सांसारिक लोग तो पेट भरकर झूठ बोलेंगे। उससे अविश्वास बढ़ेगा और अविश्वास से संसार के लोग दुःख-सागर में डूब जायेंगे जैसे कि आजकल हो रहा है। **तीसरी हानि** यह है कि सच्चा योगी यही कहेगा कि मैं परमात्मा को जानता हूँ और लोग कहेंगे कि यह कहता है कि 'मैं परमात्मा को जानता हूं।' अतः यह परमात्मा को नहीं जानता। ऐसा जानने से सच्चे योगी से लोग लाभ नहीं उठा सकेंगे और संसार की महती हानि होगी। जैसे कि अन्ध-परम्परा के कारण अनेक लोगों ने ऋषि-दयानन्द को नहीं समझा। इसी कारण से संसार की महती हानि हुई। **चौथी हानि**-यह है कि अनेक योगाचार्य कहलाने वाले अपने शिष्यों के समक्ष यह जाल रचते हैं कि मैं उस परमात्मा को नहीं जानता। इस बात को सुनकर उनके शिष्य यह कल्पना कर लेते हैं कि गुरुजी अवश्य ही परमात्मा का साक्षात्कार कर चुके हैं। क्योंकि यही परमात्मा को जानने वाले का लक्षण है। जब परमात्मा को न जानने वाले को ब्रह्मवेत्ता के रूप में मान लिया जाता है, तो वह जो कुछ कहता है, उसी को पत्थर की लकीर मानकर उसका अनुसरण करते हैं, जिसका परिणाम दुःख निकलता है। **पांचवी हानि** यह है कि अच्छे विद्वान्-उपदेशक भी अपने भाषणों में यह कहते देखे गये हैं कि मुझे आता-जाता कुछ भी नहीं है, पुनरपि आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। यह बात प्रायः इसी लिए कही जाती है कि ऐसा कहने से लोग मुझे विद्वान् मानेंगे और मुझे यश मिलेगा। वास्तव में तो ऐसा कहने वाला अपने आपको महान् विद्वान् मानता है, परन्तु आत्मा

के ज्ञान से विपरीत बोलता है । कितने ही लोग घण्टों तक अभिमान का घोर खण्डन करते देखे गये हैं, परन्तु स्वयं अभिमान से परिपूर्ण होते हैं । वे इसी अन्धपरम्परा में पले हैं । वास्तव में जैसे को तैसा कहना निरभिमानता का सूचक है और उससे विपरीत अभिमान का ।

कुछ लोगों ने यह मिथ्या कल्पना कर रखी है, कि योगाभ्यास करने से जो सिद्धि मिलती है, वह किसी को बतला दी जाय तो वह नष्ट हो जाती है । अतः योगी नहीं बताता कि मैं परमात्मा को जानता हूँ । ऐसे लोगों से पूछना चाहिए कि आजकल टेलीविजन, आकाशवाणी आदि के माध्यम से उनकी सिद्धि नष्ट नहीं होती, तो योगी की सिद्धि किसी को बतलाने से नष्ट क्यों होगी । जिस प्रकार भौतिक ज्ञान के आविष्कार किसी के सामने बतलाने से नष्ट नहीं होते, उसी प्रकार आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान भी कभी नष्ट नहीं हो सकता, किन्तु वृद्धि को प्राप्त होता है । अतः उसका प्रचार-प्रसार निःसंकोच रूप से सर्वत्र करना अत्यन्त आवश्यक है ।

इस लेख में प्रमाण और युक्तियों से इस भ्रान्ति का खण्डन किया गया है कि "जो यह कहता है कि मैं परमात्मा को जानता हूँ, वह नहीं जानता और जो यह कहता है कि मैं परमात्मा को नहीं जानता वह जानता है ।" अतः सब सज्जनों को इस मान्यता का बहिष्कार कर देना चाहिये ।

७

क्या पूर्ण योगी परमात्मा के तुल्य हो जाता है ?

योग में सातवीं भ्रान्ति यह है कि योगी परमात्मा के तुल्य सर्वज्ञ हो जाता है । कुछ लोगों की यह मान्यता है कि जब योगाभ्यास करते-करते योग की ऊँची स्थिति आ जाती है, तब योगी परमात्मा के सदृश सर्वज्ञ हो जाता है । जिस प्रकार से एक समय में परमात्मा समस्त संसार के पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभावों को जानता है, उसी प्रकार योगी भी जानता है ।

प्रथम इस विषय पर विचार करना उचित समझता हूँ कि ईश्वर की सर्वज्ञता किस प्रकार की है ? वर्तमान काल में जितने भी विश्व में पदार्थ हैं, उन सबके, गुण, कर्म, स्वभावों को ईश्वर एक साथ जानता है । और

जो कुछ भूतकाल में हो चुका है, उसको भी जानता है तथा भविष्यत् काल में जो भी कुछ हो सकता है, उसको भी अच्छे प्रकार से जानता है। यह है ईश्वर की सर्वज्ञता।

प्रश्न–कुछ लोगों का कहना है कि जो कुछ भविष्यत् काल में जीव करेगा और जिस समय करेगा उसको ईश्वर प्रथम ही जानता है कि अमुक जीव अमुक कर्म इस समय करेगा, आगे पीछे नहीं।

उत्तर–यह लोगों की मान्यता भ्रान्ति-युक्त है कि जो बात जीव के ज्ञान में नहीं आई है और आने वाली बीसवीं सृष्टि के मध्यकाल में आयेगी, उसको ईश्वर किस प्रकार से जान सकता है ? इस विषय में मैं 'दयानन्द सन्देश' में एक लेख इससे पूर्व लिख चुका हूँ। जो सज्जन देखना चाहें वहाँ पर देख सकते हैं।

अब इस विषय पर विचार किया जायेगा कि योगी परमात्मा के तुल्य सर्वज्ञ क्यों नहीं होता ?

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी सत्यार्थप्रकाश के ९ समु० में लिखते हैं कि-(क) **"जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला रहता है, परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता"**।

स्वामीजी महाराज १२ वें समु० में लिखते हैं (ख) "जीव चाहे जैसा अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ावे तो भी उसमें परिमित ज्ञान, ससीम सामर्थ्य रहेगा"।

समस्त संसार के ज्ञान की बात तो दूर रही इस शरीर के विषय में ऋषि १२वें समु० में लिखते हैं (ग)-"देखो ! चाहे कोई कितना ही सिद्ध हो तो भी शरीरादि की रचना को पूर्णतया नहीं जान सकता।" (घ) "जो अल्प और अल्पज्ञ है, वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का स्वरूप एकदेशी और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला होता है। वह सब विद्याओं में सब प्रकार यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता। इसलिये तुम्हारे तीर्थंकर परमेश्वर कभी नहीं हो सकते।" (सत्यार्थप्रकाश १२ समु०)

जैनी लोग जीवों से भिन्न सर्वव्यापक, सर्वज्ञ ईश्वर को नहीं मानते। किन्तु जीव साधना करते-करते सर्वज्ञ हो जाता है। उसी को ईश्वर मानते हैं। इस जैनियों की निराधार मान्यता का खण्डन करते हुये स्वामी दयानन्द सरस्वती जी लिखते हैं-(ङ) "(क्लेश० योग० १। २४) जो अविद्यादि

पाँच क्लेश, अच्छे और बुरे कर्मों की जो वासना, इन सबसे जो सदा अलग और बन्धनरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं । फिर वह कैसा है ? जिससे अधिक वा तुल्य पदार्थ कोई नहीं तथा जो सच्चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान् है, उसी को ईश्वर कहते हैं । क्योंकि (तत्र निरतिशयं० १ । २५)- जिसमें नित्य सर्वज्ञान है, जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, वही परमेश्वर है । और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है" । (ऋ० भू० उपासना विषय) ।

ऋषि के इन शब्दों से जीव का सर्वज्ञ न होना सिद्ध है । क्योंकि ईश्वर के ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं है । और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है अर्थात् जीव में ज्ञानादि गुण अनन्त कभी भी नहीं होते ।

योगदर्शन (१ । २५) के **तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्** सूत्र पर भाष्यकार व्यास ऋषि लिखते हैं-"**यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति**" । जिसमें अनन्त ज्ञान है वह सर्वज्ञ है और वह पुरुष-विशेष है ।

यदि योगी ईश्वर के समान सर्वज्ञ हो जाता तो व्यास जी यह न लिखते कि जिसमें ज्ञान की पराकाष्ठा है, वह पुरुषविशेष ईश्वर है । यदि योगाभ्यास के द्वारा योगी ईश्वर के समान सर्वज्ञ हो जाता है, तो वह पुरुष-विशेष ईश्वर नहीं कहला सकता । क्योंकि उसके अनुसार उस जैसे सर्वज्ञ अनेक जीव भी हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि व्यास जी भी योगी को ईश्वरवत् सर्वज्ञ नहीं मानते । (च) स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाश के स्वमन्तव्या-मन्तव्य-प्रकाश में लिखा है "ग्यारह सौ सत्ताईस वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनको परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेद- विरुद्ध वचन हैं, उनका अप्रमाण करता हूँ" ।

ब्रह्मादि अनेक ऋषि हुये हैं । उनमें से अनेक ऋषियों ने वेद के अङ्गोपांगों की रचना की है और उन ग्रन्थों के रचयिता योगी थे । जैसे कि व्यास जी को ऋषि दयानन्द जी ने योगी लिखा और उन्होंने वेदान्त दर्शन की रचना की है । इसी प्रकार अनेक सिद्ध योगियों ने ग्रन्थ लिखे हैं । यदि वे सिद्ध योगी ईश्वरवत् सर्वज्ञ होते, तो उनके रचे ग्रन्थों के विषय में ऋषि दयानन्द जी यह नहीं लिखते कि "वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो

इनमें वेद-विरुद्ध वचन हैं उनको अप्रमाण करता हूँ।" यदि ईश्वर के समान योगी सर्वज्ञ होता तो उनके सर्वज्ञ होने से उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में वेदविरुद्ध वचन नहीं हो सकता और ऋषि दयानन्द जी उन ग्रन्थों को भी वेद के तुल्य स्वतःप्रमाण मानते। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि चाहे कोई कितना ही सिद्ध योगी हो, तो भी वह परमात्मा के तुल्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

प्रश्न-जीव परमात्मा के सदृश सर्वज्ञ क्यों नहीं होता?

उत्तर-एकदेशी होने से जीव ईश्वर के समान सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसमें यह प्रमाण है महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

प्रश्न-जीव शरीर में भिन्न विभु हैं वा परिच्छिन्न?

उत्तर-परिच्छिन्न! जो विभु होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना नहीं हो सकता।

(सत्यार्थ० ७ समु०)।

यदि जीव परमात्मा के समान व्यापक होता तो जो जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था देखने में आती है, ये न होती। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में मन तथा इन्द्रियों से जीव का सम्बन्ध टूट जाता है और उस सम्बन्ध के न रहने से बाहर के पदार्थों का ज्ञान जीव को नहीं हो पाता। जीव के सर्वव्यापक होने से यह सम्बन्ध सदा बना रहेगा और सर्वदा सब व्यवहारों का ज्ञान भी ज्यों का त्यों बना रहेगा। परन्तु सुषुप्ति अवस्था में किसी जीव को बाहर के व्यवहार का परिज्ञान नहीं रहता। अतः यह बात सिद्ध है कि जीव सर्वत्र सृष्टि में ईश्वरवत् व्यापक नहीं है। इसी प्रकार से मरना, जन्म लेना, संयोग-वियोग, जाना-आना, आदि व्यवहार सर्वव्यापक में नहीं हो सकते।

और जीव की विभुवाली मान्यता में यह भी दोष है कि दूसरे जीवों के शरीर और मन में होने वाले सुख-दुःखों को कोई एक जीव नहीं जानता अर्थात् एक मनुष्य भारत में रहने वाला अमरीकादि देशों के सुख-दुःख नहीं जानता। यदि वह भारत में रहने वाला जीव समस्त संसार के जीवों के शरीर में भी विद्यमान है तो उसको सब शरीरों के व्यवहार का पता होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं। इससे सिद्ध है कि जीव सर्वव्यापक नहीं है। और सर्वव्यापक न होने से सर्वज्ञ नहीं हो सकता। तथा जीव के लिये

जहाँ पर सर्वज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है, उसको देखकर भी लोगों को यह भ्रम हुआ है कि जीव भी सर्वज्ञ हो जाता है। जैसे कि न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य में आया है-**तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभवी** (न्याय० १ । १ । ९ सूत्र पर) यहाँ पर जीव के लिये जो 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह इसलिये नहीं हुआ कि जीव समस्त संसार के पदार्थों को पूर्णरूपेण जानता है। इस भाष्य का अभिप्राय यह है कि सब इन्द्रियों और मन के व्यापार को सम्पूर्णता से जीव जानता है अर्थात् किस इन्द्रिय से किस विषय का ज्ञान होता है, कितने विषय हैं ? भोग का आयतन=आश्रय यह शरीर है। इन सबको जानने वाला यह जीव है। अतः इसको सर्वज्ञ कहा गया है। योग-दर्शन में भी ऐसे शब्द आये हैं, जिनको देखकर कुछ लोगों को भ्रम होता है कि जीव योगी बनकर परमात्मा के सदृश सर्वज्ञ हो जाता है। जैसे-

(क) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वंसर्वज्ञातृत्वञ्च
(योग० ३ । ४९)

इस सूत्र में 'सर्वज्ञातृत्व' शब्द आया है। उसका अभिप्राय यह है कि शान्त, उदित, अव्यपदेश्य धर्म वाले गुणों को एक समय में जानता है। सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों के व्यापार को अच्छे प्रकार से जानता है। इस ज्ञान के उदय होने पर वह अपने आपको प्रकृति से भिन्न जानता हुआ गुणों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। अतः इस सूत्र में आये हुये **'सर्वज्ञातृत्व'** पद का अर्थ-गुणों के सम्पूर्ण व्यवहार को जानना है। इस शब्द का सत्यार्थ समझने के लिए पूर्वापर प्रसंग को भी समझना आवश्यक है। यदि इस सूत्र में आये **'सर्वज्ञातृत्व'** पद का अर्थ यह लिया जाय कि योगी ईश्वरवत् सर्वज्ञ हो जाता है, तो सूत्रकार उस सर्वज्ञता को छोड़ने के लिए यह सूत्र न बनाता - **तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्** (यो० ३।५०) **(तद्वैराग्यादपि०)** उस सर्वज्ञातृत्व से भी वैराग्य होने पर और दोषबीज के विनाश होने पर मोक्ष हो जाता है। यदि वह सर्वज्ञता ईश्वर के तुल्य होती, तो उससे वैराग्य होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

(ख) योगदर्शन में दूसरा 'अनन्त्य' शब्द का प्रयोग आया है। जैसे-**तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्** (योग० ४ । ३१) इस सूत्र में आये 'अनन्त्य' शब्द को देखकर यह भ्रम हो जाता है कि योगी का ज्ञान ईश्वर

की तरह अनन्त हो जाता है। वास्तव में 'अनन्त्य' शब्द का प्रासङ्गिक अर्थ है 'अधिक'। जब साधनों का अनुष्ठान करता हुआ योगी ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो उसका ज्ञान इतना अधिक हो जाता है कि उस योगी के लिये जो ज्ञातव्य है, वह अत्यन्त सरल हो जाता है। जैसे कि लोक में साधारण लोगों से कठिनाई से होने वाला कार्य अधिक बलवान् के लिए बहुत सरल होता है। साधारण लोगों से बड़ी बाधा से जाना गया विषय योगी के लिए अत्यन्त सरल होता है। इसलिए इसका अभिप्राय यही है कि योगी के लिए ज्ञातव्य विषय-हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय है। इनको जानना योगी की दृष्टिमें थोड़े प्रयाससे साध्य होता है। अतः इस भाव से यहाँ 'अनन्त्य' शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न-योगी को परमात्मा के समान सर्वज्ञ मान भी लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर-कोई भी एक मिथ्या मान्यता स्वीकार करने पर उसकी सिद्धि के लिए दूसरी मिथ्या मान्यता और खड़ी करनी पड़ती है। जैसे कि किसी ने **'एक ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है'**, इस मान्यता को खड़ा किया, तो इसकी सिद्धि के लिए अनेक निराधार मान्यतायें बना डालीं और बहुत से ग्रन्थ लिखकर सहस्रों, लाखों लोगों को भ्रम में डालकर मनुष्य-जीवन के फलों से वञ्चित कर दिया। कुछ लोगों ने योगी को सर्वज्ञ स्वीकार कर लिया, तो पुनः उसकी उपासना भी करने लगे। संसार के अन्दर अनेक लोग ऐसे भी हैं जो कि अपने गुरुओं की ही उपासना करते हैं और उसी में मुक्ति समझते हैं।

कुछ लोग अपने गुरुओं को ही सिद्ध होने पर ईश्वर मानते हैं। परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। यह जीव को सर्वज्ञ मानने का ही परिणाम है। क्योंकि वे यही कहते हैं कि जीव साधना करते-करते ईश्वर बन जाता है। इसलिये वे उसी की उपासना करते और करवाते हैं। वे स्वयं तो अज्ञान-अन्धकार में पड़े ही हैं, परन्तु अपने अनुयायियों को भी अविद्या में फंसा रहे हैं। इस प्रकार योगी को परमात्मा के तुल्य सर्वज्ञ मानने पर अनेक अनर्थ हुये हैं और होंगे भी। अतः सब सज्जनों को चाहिये कि इस निराधार मान्यता का परित्याग करें और करावें, जिससे विद्या की वृद्धि और अविद्या का नाश हो सके।

८

क्या समाधिस्थ योगी तलवारादि से शरीर का अङ्ग काट देने पर पीड़ा का अनुभव नहीं करता ?

योग में आठवीं भ्रान्ति यह है कि समाधिस्थ योगी का हाथ-पैर आदि कोई भी अंग तलवारादि शस्त्र से काट दिया जाय तो उसको कोई कष्ट नहीं होता और न ही अनुभूति होती है ।

कुछ लोगों की समाधि के विषय में यह उपरिलिखित मान्यता है । अनेक वर्षों से इस मान्यता को लोगों के मुख से सुनते चले आ रहे हैं और लेखबद्ध भी इसको किया जा चुका है ।

प्रथम समाधि के विषय में ही कुछ विचार करना आवश्यक है । समाधि के विषय में लोगों की अज्ञान-कल्पित अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं । कोई कहता है - भूमि के अन्दर गड्ढा खोदकर कई दिन तक अन्न, जलादि का ग्रहण न करके उस गड्ढे में बैठने का नाम समाधि है । कोई कहता है कि एक वा दो सप्ताह तक भूखा, प्यासा रहना और किसी नाम का जप करने का नाम समाधि है । कोई कहता है कि कहीं जंगलों वा पर्वतों में जाकर एकान्त में मौन बैठे रहने को समाधि कहते हैं । कोई कहता है जिस अवस्था में प्राणों की गति अवरुद्ध हो जाती है और नाड़ी भी अपना व्यापार छोड़ देती है, उस अवस्था का नाम समाधि है । किन्हीं-किन्हीं का मत यह भी है कि समाधि-अवस्था में जीव ब्रह्मरूप हो जाता है अर्थात् जीव की सत्ता समाप्त हो जाती है । इस प्रकार से समाधि के विषय में अनेक मनगढ़न्त मन्तव्य बना रखे हैं । जिनमें से निकलकर जिज्ञासु का सच्ची समाधि को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है । योगदर्शन में ऋषि ने सबके कल्याणार्थ समाधि का वास्तविक स्वरूप वर्णित किया है, उसी को यहाँ पर उपस्थित किया जाता है -

इस सूत्र का अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने निम्न प्रकार किया है-(**तदेवार्थ०**) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जानके आत्मा को परमेश्वर के प्रकाश-स्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं । ऐसी समाधि प्राप्त योगी को भी दुःख होता है । स० प्र० के ७ वें समु० में उपासना आदि का फल बताते हुए महर्षि लिखते हैं । "इससे इसका फल पृथक् होगा परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सबको सहन कर सकेगा" । इससे सिद्ध है कि कष्ट की अनुभूति तो योगी को भी होती है । परन्तु सांसारिक मनुष्यों की अपेक्षा न्यून होती है । और लौकिक मनुष्यों की अपेक्षा योगी में सहन-शक्ति भी अनेक गुणा अधिक होती है । यह बात स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के जीवन से भी परिज्ञात है कि उन्होंने सहस्रों कष्टों को सहा और अपने घातकों को भी कल्याण का उपदेश किया । सुनते हैं कि स्वामी जी महाराज अत्यन्त रुग्णावस्था में भी स्वस्थ व्यक्ति जैसे प्रतीत होते थे । यही योगी और अयोगी में अन्तर है ।

जब साधारण मनुष्य किसी विशेष कार्य में लगा हुआ होता है तो उस समय उसके शरीर में कोई साधारण कांटा लग जाय अथवा कोई कीड़ी, मच्छर काट लेवे तो उसको भी पता नहीं चलता । परन्तु उसी अवस्था में उसे कोई विषैला बिच्छु काट लेवे तो वह चिल्लाने लगेगा । इसी प्रकार से समाधि-अवस्था में योगी को कोई कीड़ी-मच्छरादि के काटने से साधारण दुःखप्रद घटना के होने पर कष्ट और अनुभूति न हो, यह तो सम्भव है । परन्तु योगी के हाथ-पैर सिरादि अंगों को काटने से अनुभव और कष्ट न हो यह असम्भव है ।

समाधिस्थ योगी को साधारण घटना के होने पर उसका पता न हो यह सम्भव है, जैसे कि ऊपर बतलाया जा चुका है । विशेष आघात के होने पर मन व इन्द्रियों के वश में करने से उस दुःख की अनुभूति को रोक देना दूसरी अवस्था है । जब समाधिस्थ योगी की टांग, हाथ, सिर आदि को किसी तलवार आदि शस्त्र से काट दिया जाय तो योगी उस कष्ट की अनुभूति रोकने

में असमर्थ हो जायेगा। उस कष्ट को बिना रोये, चिल्लाये ही सह जायेगा। परन्तु जब समाधिस्थ योगी की गर्दन को शरीर से नितान्त पृथक् कर दिया जाय, तब तो उसको यह भी परिज्ञान न रहेगा कि मैं कहाँ पर हूँ और कहाँ परमात्मा है ? समाधि के आनन्दानुभव की तो क्या कथा है ?

प्रश्न–समाधि-अवस्था में योगी का सम्बन्ध शरीर, मन, इन्द्रियों और प्रकृतिमात्र से टूट जाता हो, इसलिए अंगों के काटने पर भी उसको कष्ट और दुःख की अनुभूति न होती हो, ऐसा क्यों नहीं मान लिया जाये ?

उत्तर–योगी का शरीर, मन, इन्द्रियों और प्रकृति से नितान्त सम्बन्ध नहीं टूटता। जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। क्योंकि समाधिस्थ योगी के शरीर में खाये-पीये हुये अन्न-जलादि का रस बनता है। उससे अन्य धातुओं का निर्माण होता है, मल, मूत्र की उत्पत्ति सतत होती रहती है। श्वास-प्रश्वास का कार्य नियमपूर्वक चलता रहता है। यदि समाधिस्थ योगी का सम्बन्ध शरीरादि से न होता तो ये उपरिलिखित कार्य कभी न होते। और यह शरीर गल-सड़कर नष्ट हो जाता। जिस प्रकार गाढ़ निद्रा में कोई साधारण चोट लगने पर सोये मनुष्य को कोई कष्ट की अनुभूति नहीं होती। परन्तु उसी मनुष्य की कोई टांग हाथादि काट देवे तो उसको महान् कष्ट होता और निद्रा का पता भी नहीं चलता कि वह कहाँ चली गई ! सुषुप्ति अवस्था में भी मन, इन्द्रियों द्वारा बाहर के विषयों का परिज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार समाधि-अवस्था में बाहर के विषयों का ज्ञान नहीं होता। परन्तु अंग के काटने से अवश्य ही कष्ट की अनुभूति होती है।

प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने में यह भी प्रमाण है–योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ऋषि जी ने चित्त की पांच अवस्थायें मानी हैं। जैसे–**'क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः'** (योग० १।१ पर व्यासभाष्य) क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें से दो (एकाग्र एवं निरुद्ध) अवस्थाओं में समाधि मानी जाती है। चित्त प्रकृत्ति का बना हुआ है और समाधि अवस्था में चित्त बना रहता है। अतः यह बात स्पष्ट है कि प्रकृति से सम्बन्ध नहीं टूटता। समाधि-अवस्था में अर्थात् जब जीव परमात्मा के आनन्द में मग्न होता है, तो प्रकृति की उपासना को छोड़ देता है और साधनों के रूप में उस समय भी उससे कार्य लेता है। असमाधि-अवस्था से यह

विशेष अन्तर है। असमाधि-अवस्था में शरीर, मन आदि से जीव कार्य करता और उनके वश में होकर विकृति की उपासना करता है। और समाधि-अवस्था में मन आदि को अपने अधिकार में कर परमात्मा की उपासना करता है।

कुछ लोग योग के विषय में ऐसी विचित्र बातें करते हैं कि उन बातों को सुनकर अनेक लोग उनके चेले-चेली बन जाते हैं। और वे उनके गुरु बनकर मौज उड़ाते हैं। इसी प्रकार एक सुनी हुई चर्चा यहाँ पर लिखना उचित प्रतीत होता है। एक व्यक्ति ने सुनाया कि एक योगाभ्यासी अपनी समाधि की स्थिति का वर्णन कर रहे थे और मैं सुन रहा था। उस योगाभ्यासी संन्यासी ने कहा कि एक बार मैं समाधि-अवस्था में था तो मेरे घुटने में किसी एक ने कील गाड़ दी। मुझे उस कील के गाड़ने पर भी किसी प्रकार की अनुभूति व कष्ट न हुआ। इतना कहने पर मैंने पूछा कि स्वामी जी महाराज! जो समाधि अवस्था में आपके पैर में कील गाड़ी थी, उसका चिह्न तो होना चाहिये, वह कहाँ है? तो वे कुछ भी उत्तर न दे सके।

कुछ लोगों की स्थिति तो ऐसी है, जैसे कि एक कहावत है कि 'चौबे जी बनने चले थे छब्बे जी, पर गांठ के दो खोकर दुब्बे जी ही रह गये।' उसी प्रकार से कुछ लोग चले तो थे योग की प्रशंसा के लिये, परन्तु प्रशंसा के स्थान में योग की निन्दा कर डाली। जो-जो गुण योगाभ्यास करने से मनुष्य में आ सकते हैं, उन-उनको कहना योग की स्तुति है। परन्तु जो बातें योग से मनुष्य में नहीं आ सकतीं, उनको उसमें मानना योग की निन्दा है।

जिस प्रकार से कुछ लोगों ने श्री कृष्ण जी और श्री रामचन्द्र जी को ईश्वर का अवतार मानकर स्तुति के स्थान में उन महापुरुषों की निन्दा की है। वैसे ही कुछ लोगों ने योग की स्तुति के स्थान में निन्दा की है और इसका परिणाम हानिप्रद सिद्ध हुआ।

एक बार मैं करनाल नगर में एक व्यक्ति से बात कर रहा था, तो उसने योग के विषय में चर्चा आरम्भ की। सर्वप्रथम उसने अपनी कल्पित मान्यता वही रखी, जो कई लोग कहा करते हैं कि आर्यसमाज में तो कोई योगी है ही नहीं, परन्तु अन्य मतों में सच्चे योगी हैं। मैं इस मिथ्या मान्यता का खण्डन दूसरे लेख में कर चुका हूँ। जो मनुष्य त्रैतवाद को नहीं मानता अथवा

ऋषि दयानन्द जी द्वारा स्वीकृत मान्यताओं को नहीं मानता, वह सच्चा योगी कदापि नहीं हो सकता। इसके पश्चात् मैंने पूछा कि आप सच्चे योगी की क्या-क्या विशेषतायें मानते हैं ? क्या सच्चा योगी अग्नि को शीतल कर सकता है ? तो उसने उत्तर दिया-हाँ कर सकता है। यह मान्यता ऋषियों के मन्तव्य से विरुद्ध है। अतः अज्ञान-कल्पित है। ऋषि दयानन्द जी ने तो यह माना कि जो स्वाभाविक गुण अग्नि में है, उसको परमेश्वर भी दूर नहीं कर सकता।

प्रश्न – इन भ्रान्त मान्यताओं का क्या कारण है ?

उत्तर – जीवनमुक्त-योगियों की न्यूनता, वेद-वेदाङ्गों के पठन-पाठन का परित्याग कर अनृषिकृत ग्रन्थों का पठन-पाठन होना, वेद-विद्या से विपरीत राजाओं का होना, और योग के गीत गाने वालों का आचरण यम-नियमादि के अनुसार न होना इत्यादि कारण हैं। इन्हीं कारणों से ये निराधार बातें प्रचलित होती हैं।

प्रश्न – इस बात के मानने में क्या हानि है ?

उत्तर – एक सच्चे योगी का समाधि-अवस्था में कोई दुष्ट आधा सिर काट देवे और उस योगी से पूछा जाय कि आपको कुछ कष्ट है, तो वह उत्तर देवे कि हाँ है तो उसको लोग योगी न मान सकेंगे। दूसरी हानि पूर्व लेख में बतलाई जा चुकी है, कि झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए दस वा पन्द्रह झूठ मानने पड़ते हैं। तीसरी हानि-यह है कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है। जैसे कि योगी का सिरादि नितान्त काट दिया जाय तो उसको यह भी ज्ञान न रहेगा कि मैं कहाँ पर हूं, समाधि के आनन्द की कथा तो दूर रही।

इस लेख में इस मान्यता का खण्डन किया गया है कि "समाधिस्थ योगी के किसी भी अंग को काट दिया जाय वा अनेक अंगों को काट दिया जाय तो उसको न कोई अनुभूति होती है और न कष्ट होता है।" अतः इन निराधार मान्यताओं को समाप्त करने के हेतु वेदादि शास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना और यम-नियमादि आठ अंगों का मनसा, वाचा, कर्मणा आचरण करना अत्यावश्यक है।

९

क्या वायु-सेवन मात्र से योगी जीवन-निर्वाह कर सकता है ?

कुछ लोगों का यह मत है कि योगी केवल वायु-सेवन से ही सम्पूर्ण जीवन का निर्वाह कर लेते हैं। अन्न, जल, दूध, फल आदि किसी भी वस्तु का सेवन नहीं करते। भाषण, भ्रमण, यात्रा, प्राणायाम आदि समस्त कार्यों को भी स्वस्थ तथा बलवान् मनुष्य की भाँति कर लेते हैं।

यह उपरिलिखित मान्यता संसार में प्रचलित है और इस विषय में एक जीवनचरित्र भी लिखा हुआ है। जीवन-चरित्र का नाम है "महायोगिनी श्री माणिकेश्वरी माता जी का जीवन-चरित्र।" इसका प्रकाशक है-महायोगी श्री माणिकेश्वरी ट्रस्ट (प्राइवेट), मु० पो० माणिकगीरी, वाया गुरु मिटकल, जि० गुलबर्गा (मैसूर राज्य)। इसके लेखक है श्री शंकरदेव जी 'वेदालंकार'। इस जीवन-चरित्र में अनेक बातें प्रमाण-विरुद्ध मनगढ़न्त लिखी गई हैं। जैसा कि माणिकेश्वरी माता जी पन्द्रह वर्ष से केवल वायु-सेवन करती हैं, और मल-मूत्र का भी पन्द्रह वर्षों से परित्याग नहीं किया है।

कुएँ के पीने योग्य पानी को स्पर्श मात्र से तेल बनाकर जला देती हैं। पाषाण और सीमेण्ट से बनी हुई दीवार को योग-शक्ति के कारण इच्छामात्र से गिरा देती हैं। एक बार माणिकेश्वरी ने कहा कि "मैं मकान के अन्दर बन्द होती हूँ। सीमेण्ट और पत्थरों से दरवाजे बन्द कर दो। यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो निकाल लेवेगा इत्यादि।"

अब इस विषय पर प्रमाण और युक्तियों से विचार किया जाता है। उपरिलिखित जीवन-चरित्र के लेखक ने 'केवल वायु-सेवन से योगी जीवित रहते हैं' इस पक्ष की सिद्धि में योग-दर्शन के एक सूत्र को प्रमाण रूप में उपस्थित किया है, प्रथम उसी पर विचार किया जाता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः (योग० ३।३० सूत्र)

शंकरदेव जी ने इस सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है अर्थात् कण्ठकूप में प्राणों को रोक लेने पर भूख, प्यास की निवृत्ति हो जाती है (पृष्ठ ७ पर)। शंकरदेव जी के सूत्रार्थ में यह दोष हैं कि यह योगदर्शन के प्रकरण के विरुद्ध है। क्योंकि यहाँ तीसरे पाद में संयम का विषय चल रहा है, प्राण का नहीं। संयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि का एक विषय में होना संयम है।

तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः ।

एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम उच्यते ॥

(योग० ३।४-व्यासभाष्य)

तीनों साधनों का एक विषयक होना संयम कहाता है। अतः वास्तविक सूत्रार्थ यह होगा कि कण्ठकूप में धारणा, ध्यान, समाधि के करने से भूख-प्यास की निवृत्ति होती है। अतः प्राणों को कण्ठ में रोक लेने से यह अर्थ जो शंकरदेव जी ने किया है, प्रकरण विरुद्ध होने से काल्पनिक है।

इस सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने लिखा है -"**तत्र संयमात् क्षुत्पिपासे न बाधेते**" (योग० ३/३० पर व्यासभाष्य)। वहाँ पर संयम करने से भूख-प्यास नहीं सताते। व्यास जी ने यह नहीं लिखा कि कण्ठकूप में संयम करने से सदा के लिये भूख-प्यास समाप्त हो जाती है, और नहीं सूत्रकार का यह अभिप्राय है। वास्तव में इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि कण्ठकूप में संयम करने से कुछ काल पर्यन्त भूख-प्यास बाधित नहीं करते। जिस प्रकार से सूत्रकार ने आसन का लाभ बताया है कि "**ततो द्वन्द्वानभिघातः**" (योग० २/४८) आसन का सिद्ध होने पर योगी को शीतोष्णतादि कष्ट नहीं देते। कोई इस सूत्र का यह अर्थ भी कर सकता है कि आसन के सिद्ध होने पर योगी के शरीर को अग्नि के अंगारों से ढक दिया जाय व जिस भट्ठे में ईंटें पकाई जाती हैं, उसमें बैठा दिया जाय तो उष्णता कोई कष्ट नहीं देगी, तो अनर्थ हो जाएगा। वास्तविकता तो यह है कि चाहे कोई कितना ही आसन-सिद्ध योगी हो परन्तु अग्नि का प्रकोप तो अवश्य कष्ट देगा। और योगी की

जीवन-लीला ही समाप्त हो जावेगी। अतः सीमित मात्रा में आसन-सिद्ध
योगी को शीतोष्णतादि नहीं सताते, ऐसा ही समझना चाहिए।इसी प्रकार कण्ठकूप में संयम करने से कुछ काल तक योगी को भूख-प्यास कष्ट नहीं देते। और उनकी यह मान्यता आयुर्वेद के भी विरुद्ध है। आयुर्वेद में स्वस्थ पुरुष का लक्षण निम्न प्रकार है -

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ।। (सुश्रुत)

जिसके वात, पित्त और कफ ये तीन दोष समरूप में हों, पाचनाग्नि ठीक प्रकार से काम करती हो, रसादि सात धातु समरूप से हों, और मल की क्रिया अच्छी प्रकार से होती हो अर्थात् पेट के मल-मूत्र उचित प्रकार से शरीर से निकलते हों, तथा आत्मा, इन्द्रियाँ और मन, ये जिसके प्रसन्न रहें, वह मनुष्य स्वस्थ कहा जाता है।

जो मनुष्य केवल वायु-सेवन करता है, उसके शरीर से वायुमात्र से कफ की उत्पत्ति किस प्रकार से हो सकती है और रस, रक्त आदि सात धातु, वायु से किस प्रकार बन जायेंगीं, तथा मल की क्रिया उचित रूप में किस आधार पर होगी ? क्योंकि वायु-सेवन से मल का उत्पन्न होना तो असंगत है और जिस मनुष्य को अन्न, फल, दूध, पानी आदि खाने-पीने को नहीं मिलते, केवल वायु ही सूँघने को मिलता है, उसके आत्मा, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न होने की बात तो दूर रही, वह दुःखसागर में ही डूबा रहेगा। और लम्बे काल पर्यन्त वायु ही सेवन करता रहे तो मृत्यु का ग्रास बन जाता है। अतः केवल वायु से न कोई योगाभ्यास कर सकता है, और न कोई योगी बनकर स्वस्थ तथा जीवित रह सकता है।

आयुर्वेद में कहा कि -

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।।

(चरक-सूत्रस्थान अ० १/१५)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूलाधार आरोग्य है और रोग धर्म,

अर्थ, काम और मोक्ष के तथा मनुष्य जीवन के भी शत्रु हैं। इसलिए केवल वायु-सेवन करने वाला मनुष्य स्वस्थ तथा जीवित नहीं रह सकता और बिना इनके योगी बनकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता।

प्रश्न - कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य-शरीर को भोजनादि से जो शक्ति मिलती है, उसको योगी वायु में ही प्राप्त कर लेता है।

उत्तर - यह मान्यता भी प्रमाण और युक्तिरहित होने से निराधार है। केवल प्रतिज्ञा मात्र से कोई भी बात सत्य वा असत्य सिद्ध नहीं हो सकती।

इस उपरि लिखित मान्यता को शंकरदेव जी वेदालंकार ने स्वीकार किया है। इसमें कोई प्रमाण, युक्ति न होने से यह सर्वथा त्याज्य है। शंकरदेव जी माता माणिकेश्वरी जी को महायोगिनी मानते हैं, और यह लिखते हैं कि ये माता जी १५ वर्ष से वायु-सेवन से ही सुखपूर्वक जीवन-यापन कर रही हैं। और १५ वर्ष से माता जी ने मल-मूत्र का त्यागकरना भी बन्द कर रखा है। मैं शंकरदेव जी से पूछना चाहता हूं कि आप सात वा आठ वर्ष पर्यन्त माता जी से सम्पर्क किये हुए हैं, तो आप केवल वायु-सेवन से ही जीवन-निर्वाह क्यों नहीं कर लेते ? और माता जी तो सबका हित चाहती होंगी, उनसे यह विधि जानकर विश्व की अन्न-समस्या का समाधान क्यों नहीं करवा देते ? भारत को विदेशियों के समक्ष झोली फैलाकर मांगना पड़ता है। इस कष्ट को दूर क्यों नहीं करते ? अब तो माता जी जीवित हैं, जीवन-यात्रा का नियम पूछकर अन्न, फल, दूध, जल और दूसरी की समस्त समस्याओं का समाधान कर दो। संसार बहुत दुःखी है। वायु की कोई न्यूनता नहीं है। आपकी विधि प्रचलित होने पर वायु के आधार पर ही मनुष्य-जीवन सफल हो जायेगा ? शंकरदेव जी ने इस मिथ्या बात को लिखने से पूर्व यह तो सोचा होता कि इस मेरे लेख से संसार की कितनी हानि होगी ? आपने योगी की संकल्प-शक्ति के विषय में यह भी लिखा है कि "हम यहां पर इतना ही कहकर छोड़ देना चाहते हैं कि योगी की संकल्पशक्ति से सब कुछ हो सकता है"। (पृ० ३१ पर)।

मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या योगी की संकल्प-शक्ति से बिना

कारण के कार्य उत्पन्न हो सकता है ? बिना मिट्टी के घड़ा और बिना सोने-चांदी धातुओं के आभूषण बन सकते हैं क्या ? क्या योगी अपनी संकल्प-शक्ति से अग्नि की उष्णता को नष्ट कर सकता है ? क्या योगी भाव का अभाव और अभाव का भाव संकल्प से बना सकता है ? मैं समझता हूं कि आपके पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है । आपने यह लिखकर अपने आपको कृतकृत्य मान लिया कि ये बातें साधना से ही जानी जाती हैं । जब आप स्वयं साधना नहीं करते और न कोई आपके पास ऐसा प्रमाण है कि जो आप अपनी बातों को सिद्ध कर सकें तो आपका निराधार बातों का लिखना अत्यन्त हानिकारक है । यह मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाण के भी विरुद्ध है । संसार में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जो मनुष्य अन्न, जलादि पदार्थों को खाता-पीता है, वह स्वस्थ, बलवान् और दीर्घायु होता है । और जिस मनुष्य को वे पदार्थ नहीं मिलते, उसके बलवान् होने की तो क्या कथा ? वह संसार से ही विदा हो जाता है । यह प्रत्यक्ष सत्य किसी के वाग्जाल से झूठा सिद्ध नहीं हो सकता ।

प्रश्न – श्री शंकरदेव जी ने यह भी लिखा है कि गांधी जी ने २१ दिन का उपवास किया था उन दिनों में पूर्व की अपेक्षा उनके शरीर का भार बढ़ गया ?

उत्तर – प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध होने से यह भी असत्य है । जो भी स्वस्थ मनुष्य उपवास करता है वह निर्बल और उसके शरीर का भार भी न्यून देखने में आता है । यदि गांधी जी का उपवास से भार बढ़ता था तो उनका दूध पीना व्यर्थ सिद्ध होता और ऐसी विद्या गांधी जी के पास थी तो भारत की अन्न-समस्या का समाधान उन्होंने क्यों नहीं किया ? उपवास से बल और भार बढ़ने की बात तो दूर रही, यदि वे अन्न, दुग्धादि का सेवन न करते तो गोलीकांड से बहुत वर्ष पूर्व ही उनके शरीर का अवसान हो जाता । अतः उपवास से भार बढ़ना अज्ञान-कल्पित है ।

अब जिनकी चर्चा आरम्भ में की थी ये माता जी पन्द्रह वर्ष से केवल वायु से जीवित हैं, उनके पास जाके मैंने जो कुछ देखा और मुझ पर उसका

जो प्रभाव पड़ा, उसे सबके लाभार्थ लिखता हूं। एक बार मैं प्रचार और भ्रमण के लिए हैदराबाद में गया था, तो मैंने इन माता जी की प्रसिद्धि सुनी कि वह योगिनी हैं। हम कार लेकर उनके आश्रम में पहुंच गये। और प्रतीक्षा करने लगे कि माता जी से कब मिलें? और बात-चीत कर योग के विषय में उनकी विशेषताएं जानें। बहुत काल के पश्चात् सूचना मिली कि माता जी गुफा से बाहर अब आ गई हैं अतः दर्शनों के हेतु दर्शक पहुंच जायें। हम उनके आश्रम में प्रविष्ट हो गये और अन्दर एक कमरे की छत पर बैठी हुई माता जी को देखा। सब स्त्री-पुरुष अपने-अपने ढङ्ग से नमस्ते कर रहे थे तो मैंने भी नमस्ते किया। नमस्ते करने पर माता जी की ओर से इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिला-कि आइये, बैठिये, कैसे आगमन हुआ? इस दृश्य को देखकर मुझ पर यह प्रभाव पड़ा कि जो बैठना, उठनादि शिष्टाचार के ज्ञान से शून्य है, वह महायोगिनी किस प्रकार हो सकती है? क्योंकि संन्यासी, उपदेशक, और वयोवृद्ध सब नीचे खड़े हैं। और वह कौए की भांति कमरे की छत पर बैठी हैं। इतना भी नहीं कि नीचे उतरकर शिष्टाचार की दृष्टि से इन सबको बैठने के लिए कुछ शब्दोच्चारण कर देवें। इस अवसर पर हम बहुत समय तक नीचे खड़े रहे और वह अपने कार्य-कर्त्ताओं से बात-चीत करती रहीं। मैंने पूछा कि माता जी किस विषय में बातचीत कर रही हैं? तो उत्तर मिला कि अपने आश्रम की टूट-फूट के विषय में बातचीत कर रही हैं।

इस घटना से भी मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। क्योंकि दिल्ली, हरयाणादि दूर-दूर स्थानों से लोग आये हुये हैं और वे पहरेदार की भांति खड़े आशाभरी दृष्टि से देख रहे हैं कि माता जी से कब मिलें? परन्तु माता जी को अपने आश्रम की टूट-फूट की चिन्ता संतप्त कर रही है। इतने में सूर्यास्त होने को हो गया और अब लोग कमरे के दरवाजे के सामने जाकर उपस्थित हो गये। माता जी छत से उतरकर अन्दर चली गईं। अब माता जी की आरती प्रारम्भ हुई। "माणिकी अम्मा नमो नमः" आदि शब्दों को बोलते हुये स्त्री-पुरुष झूम रहे थे। जब मुझे पता चला कि ये सब माणिकेश्वरी की ही स्तुति-प्रार्थना और उपासना कर रहे हैं। और इसी प्रकार करते चले आ रहे हैं। मैंने यह समझा कि जहाँ पर मनुष्य की उपासना हो रही है और तथा-कथित योगी

उसका निषेध न करे, तो वह स्वार्थी, अज्ञानी हो सकता है, परन्तु योगी कदापि नहीं हो सकता। माता जी की स्तुति-प्रार्थना और उपासना में लोग लट्टू हो रहे हैं। सच्चिदानन्द ईश्वर को भूलते जा रहे हैं, पुनरपि माता जी इन लोगों को शिक्षा नहीं देती कि मैं आपकी उपास्या नहीं, किन्तु ईश्वर आपका उपास्यदेव है। उसकी ही उपासना से मुक्ति मिलती है। अतः मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि यह योगिनी कभी नहीं हो सकती।

इस कार्यक्रम के चलते-चलते अन्धकार छा गया और आकाश बादलों से आच्छन्न हो गया। हम आशा की दृष्टि से देख रहे थे कि माता जी कब मिलेंगीं और कब उनसे वार्तालाप होगा। लम्बे काल के उपरान्त माता जी ऊपर जो बरामदा था, उसकी छत पर आ गई और हमारी ओर देखा, तब हमने भी माता जी को निकटता से देखा, तब माता जी का शरीर उसी प्रकार हृष्ट-पुष्ट प्रतीत हुआ, जैसा कि अन्न, दूध, फलादि के खाने वाली माता-बहनों का होता है। इस घटना को देख के मैं सोचने लगा कि पन्द्रह वर्ष से सतत केवल वायु-सेवन से इतना हृष्ट-पुष्ट शरीर रहना सम्भव नहीं है। मैंने अर्थापत्ति न्याय के विषय में पढ़ा था कि देवदत्त दिन में भोजन, फल, दुग्धादि कुछ भी नहीं खाता परन्तु स्वस्थ एवं बलवान् है। अर्थात् देवदत्त दिन में तो नहीं खाता परन्तु रात्रि को अवश्य खाता है, यह सिद्ध होता है। उसी प्रकार यह माता जी दूसरों के सामने कुछ भी नहीं खाती हैं। किन्तु माता जी छुपकर अवश्य खाती हैं। पुनः माता जी अन्दर चली गई और हमारी मिलने की आशा धूल में मिल गई। दस बज गये, परन्तु वे मिलने के लिये नहीं आई। हम हताश होकर चल पड़े और अपने स्थान पर जाकर सो गये। लोगों ने यह बतलाया कि रात को अपने प्रिय भक्तों को माता जी ने बुलाया और उनसे बातचीत की। मैंने तो इस दृश्य को देखकर यही निश्चय किया है कि न तो ये योगिनी हैं और उनका पन्द्र वर्ष से केवल वायु पर जीना भी मिथ्या है और यह सब अज्ञानी तथा स्वार्थी लोगों का ढोंग है।

इस लेख में 'केवल वायु-सेवन से ही योगी लोग जीवित रहते हैं, इस मान्यता का खण्डन प्रमाण-युक्तियों से किया है। आशा है कि विद्वान् लोग सत्यासत्य को जानकर सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करेंगे।

१०

क्या स्त्रियाँ योगिनी नहीं बन सकतीं ?

कुछ लोगों का यह मत है कि स्त्रियाँ योगिनी नहीं बन सकतीं। इस लेख में निष्पक्ष भाव से इसी विषय पर विचार किया जायेगा कि उक्त मान्यता सत्य है वा नहीं ? इस विषय में परीक्षा पूर्वक पक्षपात रहित होकर निर्णय देने वाले ऋषि दयानन्द जी का प्रमाण दिया जाता है -

(क) ऋषि ने ३ समु० में लिखा है - "परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है। और जो विवाह करवाना ही न चाहें वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों, तो भले ही रहें। परन्तु यह काम पूर्ण विद्या वाले जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है।" (स० प्र० ३ समु०)

(ख) इसी ३ रे समु० में लिखा है कि-"स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें"। (स० प्र० ३ समु०)।

(ग) ५ वें समु० में ऋषि ने लिखा है-"जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-संरक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता। और उनका वीर्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है, अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधियों की आवश्यकता रोगी के लिए होती है, वैसी नीरोगी के लिए नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या, धर्मवृद्धि, सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करे। जैसे पञ्चशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियाँ हुई थीं। इसलिए संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है। और अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा औरों को भी डुबायेगा।" (स० प्र० ५ वाँ समु०)

इन ऋषि के प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि जिस प्रकार से पुरुष योगी बनकर मुक्ति का भागी होता है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी योगिनी बनकर मुक्ति की अधिकारिणी बनती हैं। अतः योगी बनने का सामर्थ्य स्त्री और पुरुष दोनों में ही है। जो स्त्री के शरीर में जीव का योगी बनना नहीं मानते वे अज्ञान वा स्वार्थ में फंसे हुए हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद है। याज्ञवल्क्य ऋषि जी कहते हैं कि हे मैत्रेयी! इस स्थान से निस्सन्देह मैं ऊपर को जाने वाला हूँ। अतः तुम दोनों की अनुमति चाहता हूँ।

"**सा होवाच** ....० वह मैत्रेयी बोली कि हे भगवन्! यदि धन से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाय, तथापि क्या किसी प्रकार से मैं मोक्ष-सुख के भोगने वाली हो सकती हूँ?

याज्ञवल्क्य ने कहा - नहीं। धन, सम्पत्ति साधन वालों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा भी होगा। किन्तु धन से मोक्ष की आशा नहीं हो सकती।"

"**सा होवाच** ....

वह मैत्रेयी बोली कि जिससे मैं अमृत होने की सम्भावना नहीं कर सकती, उससे मैं क्या करूंगी। जिस वस्तु को भगवन् जानते हैं, उसी का मुझे उपदेश करें।

याज्ञवल्क्य - आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो

निधिध्यासितव्यः....................० (बृहदारण्यकोपनि० ब्रा० ४ अ० २)

हे मैत्रेयी! निश्चय आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है। हे मैत्रेयी! निश्चय ही आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन और विज्ञान से यह सब परिज्ञात हो जाता है।

इस संवाद से स्पष्ट है कि मैत्रेयी ने मोक्ष की कामना से याज्ञवल्क्य से मोक्षमार्ग पूछा है। और उन्होंने उसे अधिकारिणी जानकर उपदेश किया है कि-लौकिक धन-सम्पत्ति से तो मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती। किन्तु परमात्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार से मुक्ति हो सकती है। यदि स्त्रियाँ योगिनी नहीं बन सकती हैं तो मैत्रेयी को मोक्ष-मार्ग का उपदेश देना व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि हो सकने वाले कार्य का बुद्धिमान् उपदेश करता है, न हो सकने वाले का नहीं।

बृ० उ० में याज्ञवल्क्य और गार्गी संवाद आता है कि-"**अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा** ....० (अ० ३। ब्रा० ८। कण्डिका १) वाद के अनन्तर वह प्रसिद्धा वाचक्नवी गार्गी पुनः बोली हे भगवन् ब्राह्मणो! यदि आप लोगों की आज्ञा हो तो मैं इनसे प्रश्न पूछूँगी। यदि वे मुझको उन दोनों का उत्तर देवेंगे तो मैं समझूँगी कि आप लोगों में से कोई भी पुरुष कदाचित्

भी इन ब्रह्मवादी को जीतने वाला नहीं होगा' ।

जब गार्गी के दोनों प्रश्नों का उत्तर याज्ञवल्क्य ने दे दिया तब गार्गी बोली-**सा होवाच ब्राह्मणा** ....० (व० उ० अ० ३। ब्रा० ८। कण्डिका १२) हे मेरे पूज्य ब्राह्मणो ! मैंने जो यह कहा था कि यदि दो प्रश्नों का याज्ञवल्क्य उत्तर दे देंगे, तो आप लोगों में से कोई भी कभी इस ब्रह्मवेत्ता को नहीं जीतेंगे । इसी बात को आप बहुत मानें । इस हेतु नमस्कार करके इस याज्ञवल्क्य से अपना-अपना छुटकारा पावें । इतना कहकर वाचक्नवी चुप हो गईं" । (बृहदारण्यकोपनिषद् शिवशंकरभाष्य वैदिक यन्त्रालय में मुद्रित, तृतीयावृत्ति, सं० २०१७)

इस संवाद से यह ज्ञात होता है कि गार्गी योग-विद्या में अत्यन्त निपुण थी । क्योंकि इतने विद्वानों के मध्य में यह कहना कि मैं दो प्रश्न पूछूँगी । यदि उनका उत्तर उन्होंने दे दिया तो आप में से कोई उनको पराजित करने वाला नहीं होगा । यह निर्णय बिना योग्यता के नहीं दिया जा सकता ।

प्रश्न - कुछ लोगों का यह मत है कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है । और जब वेद को न पढ़ेंगी तो योगिनी कैसे बन सकती हैं ? क्योंकि नियमों में स्वाध्याय अर्थात् मोक्ष-शास्त्रों का अध्ययन और ओम् आदि का जप करने का विधान है ।

उत्तर - ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के ३ रे समु० में इन मिथ्या धारणाओं का खण्डन करके **यथेमां वाचं** ....० (यजु० २६।२) मन्त्र से अच्छी प्रकार सिद्ध कर दिया है कि स्त्रियों का और मनुष्यमात्र का वेद पढ़ने का अधिकार है । जो लोग स्त्रियों का वेद पढ़ने का अधिकार नहीं मानते, प्रायः वे ही लोग इस मिथ्या मान्यता को मानते और प्रचार किया करते हैं कि स्त्रियाँ योगिनी नहीं हो सकतीं । और ओम् वा गायत्री आदि मन्त्रों का जप करने से स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं । अतः स्त्रियों को इनका जप नहीं करना चाहिये । ये सब प्रमाण-विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं हैं । क्योंकि योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिकादि शास्त्रों में मनुष्यमात्र के लिये योगी बनने का विधान किया है । वहाँ पर कहीं भी यह नहीं लिखा कि स्त्री योगिनी नहीं बन सकती ।

प्रश्न - शंकराचार्य जी को लोग महान योगी मानते हैं । उन्होंने स्त्री के विषय में लिखा है कि-"**द्वारंकिमेकं नरकस्य ? नारी । का शृंखला प्राणभृतां**

हि ? नारी" (प्रश्नोतरी) । नरक का द्वार नारी है । और प्राणियों को बांधने वाली नारी सांकल है । जब शंकराचार्य जी नारी को नरक का द्वार बतलाते हैं, तो पुनः वह योगिनी कैसे बन सकती है ।

उत्तर - शंकराचार्य जी को योगी मानना और योग के विषय में उनको प्रमाणरूप में रखना निराधार है । क्योंकि वे जीव और ब्रह्म को एक मानते हैं । जो जीव को ब्रह्म से और दोनों (ब्रह्म तथा जीव) से भिन्न प्रकृति को न जानता, न मानता, वह न कभी योगी हुआ है, न है और न कभी होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । अतः शंकराचार्य को योगी मानना अज्ञान-जनित है । इसमें प्रमाण देखें-**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्** (योग० १ । ८) । जीव में ब्रह्म का ज्ञान होना अविद्या है । और जब तक यह अविद्या बनी रहती है, तब तक कोई योगी भी नहीं बन सकता । और जो शंकराचार्य जी ने नारी को नरक का द्वार तथा प्राणियों के बन्धन की सांकल लिखा है, वह भी अनुचित है मनु के शब्दों में नारी का महत्त्व देखिये-

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ।।

(मनु० २।१४५)

इस श्लोक में आचार्य तथा पिता से सहस्रों गुणा माता को बड़ा माना है । शतपथ ब्राह्मण में भी माता को प्रथम गुरु का स्थान दिया है-"**मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद**" ।

अर्थात् जिस बालक के माता-पिता और आचार्य विद्वान्, धार्मिक हों वही बालक महान्, विद्वान् बनता है । यहाँ पर माता को प्रथम गुरु माना है । अतः स्त्री को नरक का द्वार बतलाना मनघढ़न्त कल्पना है ।

प्रश्न - श्री स्वामी विद्यानन्द जी 'विदेह' ने '**परमयोग**' नामक पुस्तक के पृ० ९,१० पर लिखा है कि-"परमयोग में नारी गति सर्वथा असम्भव है । क्योंकि उसके शरीर की रचना ही वैसी है । परमयोग के लिये जिन तत्त्वों की आवश्यकता है वे केवल नर-शरीर में उपलब्ध हैं । नारी के शरीर में उनका नितान्त अभाव है । वे तत्त्व हैं कुण्डलिनी, वीर्य, ओज, और ब्रह्मसूत्र ।"

उत्तर-स्त्री के शरीर में कुण्डलिनी नहीं है और पुरुष के शरीर में है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । और मैंने सुना है कि विद्योत्तमा जी ने यह

बतलाया कि मेरी कुण्डलिनी जागृत हो गई है। और स्वामी विद्यानन्द जी विदेह लिखते हैं कि नारी के शरीर में कुण्डलिनी होती ही नहीं। अब बुद्धिमान् निर्णय कर लें कि इन दोनों में से किनकी बात सत्य और किनकी मिथ्या है ? मुझे तो दोनों ही असत्य लगती हैं। जहाँ तक मैंने योग-दर्शन और योग पर व्यास-भाष्य को पढ़ा है वहाँ तक मुझे इस कुण्डलिनी का वर्णन और योग-सिद्धि के लिए इसकी अनिवार्यता मिली नहीं। हाँ ! हठयोग-प्रदीपिका में इसका वर्णन आया है और ऋषि दयानन्द जी ने इस ग्रन्थ को अनार्ष मानकर खण्डन किया है।

अब ओज के विषय में विचार किया जाता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक के (अ० ३० । ९) सूत्रस्थान में लिखा है कि-"**येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः। यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते**" ।।

अर्थ-जिस ओजस् तत्त्व से तृप्त होकर जब जन्तु जीवन-लाभ करते हैं। जिसके बिना किसी भी प्राणी का जीवन स्थिर नहीं रह सकता।

इस श्लोक से नितान्त स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुष तथा प्राणिमात्र के शरीर में ओज रहता है। और उसी सहाय से सब प्राणी जीवित रहते हैं, अन्यथा मृत्यु हो जाती है। आयुर्वेद के इन वाक्यों को भी देखें-

"अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासंपूर्णत्वात्। तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति, मुहुर्मुहुश्च म्लाना, तथा गर्भः। तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात् तं चैवार्थमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते कुशलाः" ।।

(चरक० शारीरस्थानम्, महती गर्भावक्रान्ति अ० ४ । २४)

अर्थ-आठवें मास में रससंवाहिनी के द्वारा ओज माता से गर्भ के हृदय में और गर्भ से माता के हृदय में परस्पर आता-जाता रहता है क्योंकि गर्भ पूर्णरूप से तैयार नहीं रहता। इसलिए माता आठवें मास में बार-बार प्रसन्न और बार-बार उदास हुआ करती है अर्थात् जब ओज गर्भ के हृदय में चला जाता है तब माता उदास हो जाती है। जब पुनः ओज माता के हृदय में चला जाता है, तब माता प्रसन्न दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार जब गर्भ में ओज रहता है, तो गर्भ में प्रसन्नता रहती है। जब ओज माता में चला जाता है, तो उदासी छा जाती है। इस मास में यदि बालक का जन्म हो जाता है तो

उसका जीवन संकटमय हो जाता है। क्योंकि ओज की स्थिति अस्थिर रहती

है। इसलिये कुशल चिकित्सक प्रसव होने के लिये अष्टम मास को अगण्य (अर्थात् प्रसव के योग्य नहीं) समझते। (चरक० शारीरस्थानम्-महती गर्भावक्रान्ति प्रथम भाग, अ०४।२४ टीकाकार-पं० काशीनाथ शास्त्री एवं डा० गोरखनाथ चतुर्वेदी)

इन आयुर्वेद के प्रमाणों से सिद्ध है कि नारी के शरीर में भी ओज होता है। अतः यह मान्यता प्रकरणविरुद्ध होने से अग्राह्य है। और इस मान्यता को स्वीकार करने से अनेक हानियाँ हुई हैं।

प्रथम हानि-यह हुई कि स्त्री जाति ने जीवन के मुख्योद्देश्य योगी बनने के प्रयास को छोड़ दिया। क्योंकि उसके मन में यह बैठ गया कि स्त्री योगिनी नहीं बन सकती।

दूसरी हानि-यह है कि स्त्री के योग-विद्या न जानने से उसकी सन्तान को योगी बनाना अत्यन्त कठिन हो गया। जिसका फल यह निकला कि वह अपनी सन्तान-सहित योगानन्द को छोड़ विषयरूपी दुःखसागर में डूबने लगी, जो कि आज प्रत्यक्ष देखने में आता है।

तीसरी हानि-यह है कि योग-विद्या का परिज्ञान न होने से आज चाहे कोई भी स्वार्थी, अज्ञानी इनको बहकाता है और चेली बना धन-सम्पत्ति लूटकर ठाठ से रहता है। आज जो सैकड़ों झूठे ईश्वर के अवतार बने हुए हैं, इनमें स्त्री-जाति का बहुत अधिक सहयोग है इत्यादि।

इन परम योग की कल्पना करने वालों से यह भी पूछना चाहिए कि परम योग का किस वेद वा शास्त्र में वर्णन है? क्या पतञ्जलि जी परम योग को भूल गये थे, जिससे उन्होंने अपने योगशास्त्र में उसका वर्णन नहीं किया? वास्तविकता तो यह है कि कुछ लोग नवीन कल्पना करके यह दिखाना चाहते हैं कि प्राचीन ऋषियों ने ये बातें नहीं बतलाईं। मैंने इनकी विशेष रूप से गवेषणा की है। इस प्रकार से ऋषियों की भूल दिखाकर भोले-भाले लोगों को अपने जाल में फंसाकर उनकी धन-सम्पत्ति को लूटकर ठाठ से रहते हैं। इन स्वार्थी लोगों की निराधार कल्पना को न मानकर वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों के सिद्धान्तों को ही आधार बनाकर योगमार्ग पर चलना चाहिए।

अतः 'स्त्री भी योगिनी और परमयोगिनी बन सकती है'। यही पक्ष सत्य है और इससे विपरीत पक्ष मिथ्या है।

११

क्या निम्न लक्षण ईश्वर-साक्षात्कर्ता के हो सकते हैं ?

"श्री आनन्द स्वामी जी सरस्वती के जीवन की कहानी श्री रणवीर जी (उनके पुत्र) द्वारा लिखित"।[१]

श्री आनन्दस्वामी जी सरस्वती की शांति और प्रकाश का मार्ग दिखाने वाली एक जीवन की कहानी में उपरिलिखित जीवन-चरित्र को मैंने पढ़ा और उसके पश्चात् इस परिणाम पर पहुंचा कि इस पुस्तक में योग के नाम से लिखी अनेक बातें वेद, ऋषिकृत ग्रन्थ और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध हैं। इस पुस्तक को पढ़कर अनेक लोग भ्रमित हुए हैं और आगे भी होंगे।

यह योग में ग्यारहवीं भ्रान्ति लिखी जा रही है। इसके लिखने का मुख्योद्देश्य यह है कि योग के नाम से जो मिथ्या मान्यताओं का प्रचार हो रहा है, उसका खण्डन और योग के वास्तविक स्वरूप का मण्डन करना है।

(१) कुछ लोगों की यह मान्यता है कि आनन्द स्वामी जी ने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है और उन जैसा योगी आर्यसमाज में कोई दूसरा नहीं है। इस लेख में निष्पक्षता से इसी विषय का परीक्षण किया जायेगा कि उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया है वा नहीं ?

श्री आनन्द स्वामी जी को ईश्वर के दर्शन करवाने वाले भूतपूर्व नाम ब्रह्मचारी व्यासदेव जी और वर्तमान में) स्वामी योगेश्वरानन्द जी हैं।

"मैंने प्रभु का नाम सुना, उनकी महिमा को जाना, अब उन्हें देखना चाहता हूँ। ब्रह्मचारी मुस्कराते हुए बोले यह तो मैं दिखा दूँ। आज रात हम दोनों बैठेंगे। आज रात ही आप अपने प्रभु को साक्षात् देखेंगे।

इसके बाद क्या हुआ. लेकिन उस रात पूज्य स्वामी जी ने मुझे

---

१. यह लेख आनन्द स्वामी जी के जीवन-काल में लिखा गया था। अतः इसमें वर्तमानकाल के वाक्यों का प्रयोग है। (लेखक)

बतलाया-मैंने साक्षात् उनके दर्शन किये, जिसके दर्शन की प्यास जन्म-जन्मान्तर से मेरी आत्मा में थी" (पृष्ठ ३०६) ।

समीक्षा-इस स्वामी जी के लेख से स्पष्ट है कि वे यह मानते हैं कि मैंने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है और उनको ईश्वर साक्षात्कार करवाने वाले श्री स्वामी योगेश्वरानन्दजी हैं ।

श्री आनन्द स्वामीजी ने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, यह मान्यता निराधार है । क्योंकि जिनको वे ईश्वर का साक्षात्कार करवाने वाले गुरु मानते हैं, वे स्वामी योगेश्वरानन्द जी स्वयं ही योग विषय में भ्रमित हैं । जो मनुष्य अज्ञानान्धकार में फंसे हुए हैं और ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के विषय में उलटा समझते हैं, वे दूसरों को ईश्वर का साक्षात्कार कदापि नहीं करवा सकते ।

सब सज्जनों के ज्ञानार्थ उनकी कुछ मान्यताओं को यहाँ पर उपस्थित करता हूँ कि स्वामी योगेश्वरानन्द जी ईश्वर, जीवादि के विषय में किस प्रकार उलटा समझते हैं ?

कुछ समय पूर्व मैं स्वामी योगेश्वरानन्द जी से वैदिक साधनआश्रम आर्यनगर, रोहतक (हरियाणा) में मिला और प्रश्नोत्तर के माध्यम से तथा उनके उपदेश से निम्नलिखित मान्यतायें उनकी सिद्ध हुईं ।

१. ईश्वर और प्रकृति ये दो ही पदार्थ अनादि हैं । जीव की कोई सत्ता नहीं ।
२. वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं है । वह तो ऋषियों के हृदय की उपज है ।
३. ईश्वर में कोई गुण नहीं है और जो स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने ईश्वर को सगुण और निर्गुण माना, वह असत्य है ।
४. ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नहीं है ।

अब बुद्धिमान् लोग विचार करें कि जिनकी वेद और ऋषिकृत ग्रन्थों में नितान्त विपरीत मान्यतायें हों, वे ईश्वर के साक्षात्कार करने तथा करवाने में किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं ? अतः ईश्वर साक्षात्कार का उपर्युक्त विचार पूर्णतः भ्रान्त है ।

ऋषि दयानन्द जी भी योगी थे । उन्होंने ईश्वर से भिन्न जीव की सत्ता को स्वीकार किया है । पतञ्जलि ऋषि थे, उन्होंने जीव की सत्ता को पृथक् स्वीकार किया है । परन्तु आनन्द स्वामी जी को ईश्वर का साक्षात्कार

करवाने वाले स्वामी योगेश्वरानन्द जी जीव की सत्ता को ही नहीं मानने और योगाचार्य बन बैठे, कितनी आश्चर्य की बात है !!

महर्षि पतञ्जलि जी की तो यह घोषणा है कि जो मनुष्य ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय में विपरीत ज्ञान रखता है, वह कभी भी योगी बनकर ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर-करा सकता । विपरीत ज्ञान का लक्षण देखिए-"**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्**" (योग० १ । ८) विपरीत ज्ञान को विपर्यय कहते हैं । जैसे कि रज्जू को सांप और सांप को रज्जू अज्ञानता में समझा जाता है । जब तक यह विपरीत ज्ञान बना रहता है, तब तक कोई भी मनुष्य न ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और न करवा सकता है । जब स्वामी योगेश्वरानन्द जी जीव की सत्ता को नहीं मानते और ईश्वर को गुण रहित मानते हैं, तो उनका यह ज्ञान मिथ्या है । पुनः वे ईश्वर का साक्षात्कार कैसे करवा सकते हैं ? जब मनुष्य स्वयं मार्ग को नहीं जान सकता वा विपरीत जानता है, वह कदापि दूसरों को सन्मार्ग नहीं बतला सकता ।ये भोले-भाले लोगों को फंसाकर, चेला-चेली बनाकर ठाठ से रहने के उपाय हैं ।

जो लोग ऋषि दयानन्द को योगी मानते हैं, परन्तु स्वामी योगेश्वरानन्द जी को भी ईश्वर का साक्षात्कार करने वाले पूर्ण योगी मानते हैं । मैं उन लोगों को बतला देना चाहता हूँ कि यदि ऋषि दयानन्द जी ने ईश्वर का साक्षात्कार किया था, तो स्वामी योगेश्वरानन्द जी ने नहीं किया और यदि स्वामी योगेश्वरानन्द जी ने ईश्वर का साक्षात्कार किया है, तो ऋषि दयानन्द ने ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया । क्योंकि योग के विषय में दोनों की विपरीत मान्यताएँ हैं । जो लोग स्वामी योगेश्वरानन्द जी को सच्चा योगी मानकर उनके चेला-चेली बने हुए हैं, और तन, मन, धन से उनका प्रचार करते हैं, वे वैदिक धर्म का गला घोटने वाले हैं । अतः स्वामी योगेश्वरानन्द जी अज्ञान में हैं, वे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं करवा सकते और जो आनन्द स्वामी जी का ईश्वर-साक्षात्कार है, वह उन्हीं का करवाया हुआ है, वह भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है ।

(२) समाधि अवस्था में टांग के एक सिरे से दूसरी ओर कील निकाल देना और उसका भी पता न चलना-"जल्दी नहीं उठाया । आपको इस जगह बैठे हुए २४ घण्टे हो चुके हैं, आज दूसरा दिन है । अपनी दाईं टांग को

देखिए। इन २४ घण्टों में आपको यह भी पता नहीं लगा कि टांग में छः इञ्च लम्बी कील ठोक दी गई है। (पृ० २२८)।

समीक्षा-छः इञ्च की कील एक सिरे से दूसरी ओर निकाल दी और रक्त का प्रवाह भी बड़ा भयंकर हुआ। परन्तु आनन्द स्वामी जी की ऐसी समाधि लगी कि उनको पता तक न चला। समाधि अवस्था में मनुष्य को ज्ञान रहता है। यह कभी सम्भव नहीं है कि छः इञ्च की कील टांग में गाड़ दी जाय और उसका पता भी न लगे। हाँ मुर्दा तथा मूर्छा अवस्था में यह सम्भव है, समाधि में नहीं। परन्तु आनन्द स्वामी जी की उक्त बातें भोले लोगों को भ्रम में डालने वाली हैं।

ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के ७वें समु० में यह लिखा है कि "आत्मा का बल इतना बढ़ेगा, वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सब को सहन कर सकेगा"। इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि दुःख तो योगी को भी प्राप्त होता है परन्तु वह उसको सहन कर लेता है। परन्तु यह नहीं लिखा कि उसकी टांग आदि शरीर का अङ्ग काट देने पर भी उसे कोई दुःख अनुभव नहीं होता। ये योगी कहलाने वाले और उनके चेले झूठ को छुपाने में अत्यन्त चतुर हैं कि कोई पूछ न लेवें। इसलिए पुस्तक में लिख दिया कि-वह छः इञ्च की कील का टांग में हुआ चिह्न उसी समय समाप्त हो गया था।

(३) वाणी के उच्चारणमात्र से वर्षा बन्द हो गई। मैंने पूज्य स्वामी जी के पास जाकर कहा-आप इन बादलों को रोक नहीं सकते? वह हंसते हुए बोले क्यों? मैंने उन्हें कारण बताते हुए कहा-ऐसा कह दीजिए कि विवाह से सात दिन पहले और दो दिन बाद वर्षा न हो। वह फिर हंसते हुये बोले-अच्छा जाओ, नहीं होगी। और सचमुच ही उन नौ दिनों में वर्षा नहीं हुई। (पृ० २३६)

समीक्षा-इनसे पूछना चाहिए कि कथनमात्र से नौ दिन तक वर्षा बन्द हो गई। वह आपका बादलों को दिया आदेश भाखड़ा का बांध तो नहीं था? कैसे ९ दिन तक वर्षा रुक गई? और बादलों ने आपका आदेश सुन लिया, वे तो जड़ हैं? वा परमात्मा आपका आज्ञाकारी बन गया? चाहे जब वर्षा करवायें और चाहे जब बन्द करवा दें। इसी वर्षाकाल में भारत के अनेक राज्यों में भयंकर वर्षा हुई। सहस्रों मनुष्य निवास, धन, सम्पत्ति से

रहित हो गये । सैकड़ों मनुष्य तथा पशु मृत्यु के मुख में चले गये, परन्तु आनन्दस्वामी जी ने बादलों को आदेश नहीं दिया कि हे बादलो ! वर्षा बन्द करो । क्या आनन्द स्वामी जी इतना पक्षपात करते हैं कि बेटे के कहने से तो विवाह में थोड़ी रुकावट आते ही वर्षा बन्द करवा दी और दूसरों के लिये मृत्यु जैसी आपत्ति आने पर भी वर्षा बन्द न करवाई ।देख लो ईश्वर-साक्षात्कार करने वालों की लीला । क्या इसमें प्रमाण है कि बादलों को आदेश देने या मन में वर्षा को रोकने के लिए मन्त्र जपने से वर्षा बन्द हो जाती है । ऋषि दयानन्द जी भी योगी थे । परन्तु उन्होंने तो यहाँ तक माना है कि ईश्वर के भी कहने मात्र से कभी सृष्टि नहीं बन सकती, मनुष्य की तो क्या कथा ! अतः ये आनन्द स्वामी जी की मनगढ़न्त मिथ्या कल्पना है कि कथनमात्र से वर्षा बन्द हो गई । यदि स्वामी जी की यह बात सत्य है तो मुसलमानों की यह बात भी सत्य हो जावेगी कि खुदा ने 'कुन' कह दिया-सृष्टि बन गई । मुहम्मद साहब ने अंगुली से चन्द्रमा के टुकड़े कर दिये ।

(४) झील, गंगादि में स्नान करते हुए डूब जाय तो मुक्ति हो जाती है ।

"यह पुण्य तीर्थ है । जहां मौत आ जाय तो मुक्ति मिल जाती है । फिर तीर्थ पर या तीर्थ-यात्रा में प्राण चले जाते तो इससे अच्छा क्या ? इससे मुक्ति मिलती हैं" । (पृष्ठ २५१)

समीक्षा-झीलों, तालाबों और गंगादि नदियों में स्नान करने, डूबकर मरने से मुक्ति मिलती है, तो जितने भी मुक्ति चाहने वाले हैं, उन सबको झील तथा गंगादि नदियों में डूबकर मर जाना चाहिए । यम-नियमादि के पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं । और जो इस मान्यता को सत्य मानते हैं उनको शीघ्रातिशीघ्र स्वयं तथा अपने सम्बन्धियों को साथ ले जाकर डूब जाना चाहिए । जिससे मुक्ति मिलने में विलम्ब न हो । भाई ! उन जल-स्थलों पर मरने से मुक्ति होती है, तो सहस्रों मछलियों का वध वहाँ पर होता है, तो क्या उन सबकी भी मुक्ति हो जाती है ? ऋषि दयानन्द जी महान् योगी थे, तो वे इन जल-स्थलों का मिथ्या तीर्थ डुबोने वाले क्यों मानते हैं ? यदि आनन्द स्वामी जी लोकैषणा में न बहते, तो ये निराधार बातें न लिखते और न इनका उपदेश करते, न ही अपने नाम से इस प्रकार की बातों को कहने वालों का सहन करते ।

हस्तरेखाओं से मृत्यु-काल को बताया जा सकता है ?

(५) "वह बेचारा (बालक) मर गया न ? जी मैंने कहा-वह बोले। यही लिखा था उस बालक के हाथ में। इसलिए मैं उसे कुछ बता नहीं सका"। (पृष्ठ १११)।

समीक्षा-मैं आनन्द स्वामी जी से पूछना चाहता हूँ कि कौन से वेद या ऋषिकृत ग्रन्थ में लिखा है कि हस्त-रेखाओं में मनुष्य की आयु लिखी हुई है ? इस समय जो हस्तरेखाओं में आयु को बतलाने वाली पुस्तकें मिलती हैं, उनमें परस्पर विरोध है। अतः वे प्रमाणित नहीं हो सकतीं। २९.१२.७४ के अंग्रेजी में प्रकाशित होने वाले हिन्दुस्तान टाइम्स-दैनिक पत्र में लिखा है-"अमेरिका के दो डाक्टरों ने ५१ मृतक मनुष्यों की हस्तरेखाओं को देखा, तो उनकी आयु-रेखा के अनुसार जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त किसी की भी ठीक सिद्ध नहीं हुई"।

श्री आनन्द स्वामी जी की निराधार कल्पना को मान भी लिया जाय तो उस छत से गिरके मरने वाले बालक को उन्होंने क्यों नहीं बचाया ? योगी तो अत्यन्त दयालु होते हैं। यदि साधारण व्यक्ति भी यह जान लेता कि यह बालक छत से गिरके मरेगा, वा पानी में डूबके मरेगा, तो वह पूर्णरूपेण प्रयास करके उसको बचा लेता है। परन्तु आनन्द स्वामीजी ने नहीं बचाया। और मरने के पश्चात् अपने को योगी सिद्ध करने के लिए कहा कि-इसके हाथ में यह लिखा था, मैंने जान-बूझकर नहीं बताया। यदि स्वामी जी यह मानते हैं कि ईश्वर ने मरने का समय निश्चित कर रखा है, तो बादलों को भी परमात्मा ने निश्चित कर रखा था। जब वर्षा को बन्द कर सकते हैं, तो मृत्यु को भी रोक देते। जब मृत्यु को नहीं रोक सके तो बादलों को भी नहीं रोक सकते। यदि रोक सकते तो मृत्यु को भी रोक सकते थे। "मृत्यु का समय निश्चित है वा अनिश्चित" इसके लिए पाठक गण "कालाकाल मृत्यु मीमांसा" नामक शास्त्रार्थ २ एफ०, कमलानगर दिल्ली-७ से प्राप्य है, उसको पढ़ें। प्रमाण के विरुद्ध होने से मृत्यु का समय निश्चित

मानना असत्य है, यह उसमें सप्रमाण तथा युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है।

ऋषि दयानन्द जी ने एक गौ के जीवन से ४,७५,६०० मनुष्यों का उपकार माना है। और उसे मारकर खाने में लगभग अस्सी मनुष्यों के एक समय की उदरपूर्ति मानी जाती है। यदि मरना निश्चित है तो लाखों मनुष्यों का लाभ होने की कल्पना भी नहीं हो सकती।

स्वामी जी अभी तो जीवित हैं[१]। कुछ लोगों की हस्तरेखाओं को देखकर उनकी आयु बतला देवें कि कौन कब मरेगा ? उनके कथनानुसार उनकी मृत्यु होने पर उनकी बात सत्य मानी जा सकती है। स्वयं वे अपने विषय में बतला देवें कि वे कितने वर्ष, मास तथा दिन जीवित रहेंगे ? परन्तु मुझे तो नितान्त यह आशा नहीं है कि आनन्द स्वामी जी ऐसा कर सकेंगे। उन्होंने तो अपने लेख और उपदेशों में अपने को ईश्वर का साक्षात्कार करने वाला सिद्ध करने के हेतु ऐसा कहा है।

(६) संसार में जो कुछ होता है सब ठीक होता है।

"ईश्वर की इस दुनियां में जो कुछ भी होता है, हर आदमी के भले के लिए होता है, बुरे के लिए कुछ होता नहीं है।" (पृ० २२४)।

समीक्षा–क्या किसी के घर डाका पड़ता है, तो वह भी उसके भले के लिये होता है ? ऋषि दयानन्द जी, स्वामी श्रद्धानन्द जी, पं० लेखराम जी आदि की हत्या कर दी गई, क्या यह सबके भले के लिये हुई ? और गौएँ, भेड़, बकरी, मुर्गी आदि लाखों प्राणी मांसाहारियों के द्वारा मौत के घाट उतारे जा रहे हैं, क्या यह सबके भले के लिए है ? श्री आनन्द स्वामी जी कभी भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकेंगे। अतः योगी बनने के लिए मिथ्या धारणाओं का प्रचार करना उचित नहीं है।

(७) आनन्दस्वामी जी भारत में बैठे हुए रणवीर जी की विदेश यात्रा को ठीक देखकर लौट आये।

"मैं ध्यान में बैठा था मैं यह देखकर लौट आया कि तुम बिलकुल ठीक से हो"। (पृ० २३१–२३२)

समीक्षा–भारत की धरती पर आनन्द स्वामी जी ध्यान में बैठे हैं और

---

१. जब यह लेख लिखा गया था, तब श्री आनन्द स्वामी जी जीवित थे। (सं०)

रणवीर जी की विदेश-यात्रा में उनको देखकर लौट आये । श्री स्वामी जी

से पूछना चाहिये कि आपका शरीर तो भारत की भूमि पर रहा और आप यहां से चलकर रणवीर जी को देखकर लौट आयें । ऐसा कौन-सा उपाय है ? यदि आप यह कहते हैं कि मैं सूक्ष्म शरीर से चलकर देख आया, तो जब आप और आपका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से निकलकर गये तो स्थूल शरीर को गल-सड़ जाना चाहिये था ? और स्थूल शरीर के बिना आपने सूक्ष्म शरीर से अपने बेटे को कैसे देखा ? क्या आप इस विधि को बता एवं करके दिखा सकते हैं ? यदि आप करके नहीं दिखा सकते तो आपका यह केवल आडम्बर है और इससे आर्यसमाज की महती हानि हो रही है ।

(८) रणवीर जी विदेश में हैं और स्वामी जी भारत में । रणवीर जी को स्वामी जी की आवाज विदेश में सुनाई देती है ।

"एक नाले से बचने के लिये-रणवीर रुक जाओ, रणवीर आगे मत बढ़ो" । (पृ० २३४)

समीक्षा-यह खुदा और फरिश्तों जैसी बात है । मैं स्वामी जी से पूछता हूं कि आपका शरीर, मुखादि तो भारत में और विदेश में रणवीर जी को एक नाले से बचने के लिए उनको आवाज दे रहे हैं, इसका क्या उपाय आपके पास में है ? और एक बार आप करके दिखा दीजिए कि विदेश में रहने वाले किसी भी भारतीय मनुष्य को सम्बोधन करके कहिये कि यह काम मत करो । जब आप ऐसा करके दिखा देवें, तो आपकी बात सत्य है, अन्यथा मिथ्या ।

इस लेख में पुस्तक में आई आनन्द स्वामी जी की अनेक बातों पर विचार किया गया है । उनमें से स्थाली पुलाक न्यायवत् कुछ एक पर ही यहाँ सत्य के प्रचारार्थ प्रकाश डाला गया है । इस विचार से यह परिणाम निकलता है कि आनन्द स्वामी जी के जो ईश्वर साक्षात्कार के करवाने वाले गुरु हैं, स्वामी योगेश्वरानन्द जी, ईश्वर साक्षात्कार के विपरीत हैं । अतः वे ईश्वर का साक्षात्कार न कर सकते और न करवा सकते हैं ।

जब स्वामी जी को ईश्वर-दर्शन करवाने वाले ही अज्ञानयुक्त हैं तो स्वामी जी का यह कहना कि 'उन्होंने मुझे ईश्वर का दर्शन करवाया' निराधार है । इस लेख में दिये अनेक वाक्यों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि ईश्वर-साक्षात्कार करने के पश्चात् इस प्रकार की मिथ्या बातें न लिखी जा सकती हैं, न उपदेश में सुनाई जा सकती हैं । अतः आनन्द स्वामी जी को ईश्वर-साक्षात्कार हो चुका है, यह मानना नितान्त असत्य है ।

१३

क्या योग के नाम पर प्रचलित सभी सिद्धियाँ सत्य हैं, और सब सत्य सिद्धियाँ मोक्षार्थ आवश्यक हैं ?

योग-जिज्ञासुओं के समक्ष ये शंकायें प्रायः उपस्थित होती रहती हैं कि क्या ये सब प्रचलित सिद्धियाँ सत्य है और मोक्ष के लिए अनिवार्य हैं ?

इस विषय में कुछ लोगों की यह मान्यता है कि जो सिद्धियाँ योग के नाम से सुनी जाती हैं वा लिखी गई हैं, वे सब सत्य हैं और मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य हैं ?

यहां पर सिद्धि शब्द के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। योगदर्शनोक्त उपासना के आठ अंग हैं यथा-**यमनियमाऽऽसनप्राणायाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** (योग० २। २९) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इन आठ अंगो का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने से मनुष्य को अनेक प्रकार के बल, ज्ञान, सुख, सहनशक्ति आदि उपलब्ध होते हैं। जैसे-"**ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**" (योग० २। ९८) ब्रह्मचर्य के पालन से शारीरिक और बौद्धिक बल की प्राप्ति होती है। **समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्** (योग० २। ४५) ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। **योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः** (योग० २। २८) योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से अविद्या का नाश होता है और ज्ञान की प्रवृद्धि विवेकपर्यन्त होती है। **कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः** (योग० ३।३०) कण्ठकूप में संयम करने से कुछ काल के लिए भूख, प्यास की निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार मन, इन्द्रियों का वश में आना, शीतोष्णता व मानापमानादि सहने की शक्ति और मोक्ष-सुख की भी प्राप्ति हो जाती है। ये सब सिद्धियाँ सत्य हैं। अतः इनको सिद्ध करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है।

योग-सिद्धि के नाम से जो अनेक मिथ्या मान्यतायें हैं, उनमें से कुछ को यहाँ लिखते हैं।

(१) योगी परमात्मा के समान सर्वज्ञ हो जाता है और वह सृष्टि की

उत्पत्ति-स्थिति तथा प्रलय भी कर सकता है।

(२) केवल वायु-सेवन से जीवन निर्वाह करता है और मलमूत्र त्याग नहीं करता। इसी रूप में मोक्ष तक पहुँच जाता है।

(३) योगी पाषाण की शिला में इस स्थूल शरीर को सूक्ष्म कर घुस जाता है और उसी समय निकल भी जाता है। स्थूल शरीर ज्यों का त्यों रहता है। अर्थात् शिला में प्रवेश के समय शरीर को इतना सूक्ष्म बना लेता है कि उस पत्थर का कुछ भी नहीं बिगाड़ता और प्रविष्ट होकर बाहर आते ही वैसा ही स्थूल शरीर बना लेता है, जैसा कि मनुष्यों का है।

(४) भूमि आदि के परमाणु लेकर अनेक शरीर, चित्त नये बनाकर उनको धारण करता है और उनसे भोग भी भोगता है।

(५) बिना आटे और घी आदि के योगी लोग नाना प्रकार के मिष्टान्न बनाकर अपने शिष्यों को खिलाते हैं। और सत्य साईं बाबा तो बिना सोना-चाँदी आदि धातु के ही अपने भक्तों को सोने की अंगूठी तथा घड़ी बनाकर झट से दे देते हैं। यह उनकी योग-सिद्धि है।

(६) समाधि-अवस्था में योगी का हाथ-पैरादि काट देने पर भी योगी को कुछ पता नहीं लगता।

(७) अहिंसा का पूर्ण पालन करने से योगी के प्रति सब प्राणी वैरभाव त्याग देते हैं।

(८) यदि योगी यह कह देवे कि अग्नि पानी बन जाय और पानी अग्नि बन जाय, तो वैसा ही हो जाता है।

(९) योगी अपने शिष्यों के सिरों पर हाथ रखकर झट समाधि लगवा तथा ईश्वर का प्रत्यक्ष करवा देता है।

(१०) वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों के पढ़े बिना ही केवल योगाभ्यास से मुक्ति हो जाती है।

इत्यादि योग के नाम से अनेक मिथ्या धारणायें हैं।

इनमें से अनेकों का खण्डन पूर्व लेखों में कर चुका हूं और कुछ के विषय में यहाँ पर लिखता हूं।

प्रश्न-अनेक स्थलों पर यह बात आती है कि योगी नया शरीर तथा नया चित्त बना लेता है और उनसे व्यवहार करता है।

उत्तर-नया शरीर और नया चित्त बनाने का यह अभिप्राय नहीं है कि योगी भूमि आदि के परमाणुओं को लेकर परमात्मा की भांति नया शरीर या

नया चित्त बना लेता है। उसका तात्पर्य यह है कि योगाङ्गानुष्ठान से शरीर, चित्तादि में परिवर्तन कर देना है, इसको नया रूप दिया जाता है। जैसे कि योग के 'तत्र ध्यानजंमनाशयम्' (योग० ४। ६) सूत्र में प्रदत्त व्यासभाष्य इस प्रकार है- **"पञ्चविधं निर्माणचित्त जन्मौपधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयम्"** ।

इस व्यास-भाष्य में पांच प्रकार से चित्त का निर्माण बतलाया है। जो चित्त ध्यान से उत्पन्न होता है, वह वासना-रहित होता है। यहाँ पर 'ध्यानजम्' से यह अभिप्राय नहीं है कि योगी ध्यानबल से परमाणुओं को लेकर नया चित्त बना लेता है। किन्तु ध्यानाभ्यास से उसी परमात्मा-निर्मित चित्त को ही वासना-रहित बना लेता है। इसी को उत्पन्न चित्त कहा है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए। नए शरीर, चित्तादि भी योगी नहीं बना सकता। इसमें ऋषि दयानन्द जी का प्रमाण है कि-"चाहे कितना ही सिद्ध-योगी हो तो भी शरीरादि की रचना को पूर्णता से नहीं जान सकता।" (सत्यार्थ० १२ समु०)। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि योगी शरीरादि की रचना को पूर्णरूप से नहीं जान सकता। जब जान ही नहीं सकता तो पुनः शरीर और चित्त का परमाणुओं से निर्माण कदापि नहीं कर सकता।

पुनः ऋषि दयानन्द जी (सत्यार्थ० ८ वें समु० पृ० १७४) पर लिखते हैं "जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीरधारी हैं इससे त्रसरेणु, अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते, वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूलजगत् नहीं बना सकता।"

जैसे परमात्मा देहधारी होने पर प्रकृति आदि को अपने वश में लाकर सूर्यादि भूगोलों और शरीरों की रचना नहीं कर सकता, तो योगी शरीरधारी होता है, वह परमाणुओं से नये शरीर और चित्त की रचना कैसे कर सकता है? ऋषि ने कहा कि "तुम और हम परमाणुओं से सृष्टि की रचना नहीं कर सकते"। यदि ऋषि यह मानते कि योगी कर सकता है, तो स्वीकार करते। अतः ऋषि दयानन्द जी का यह सिद्धान्त नहीं है कि योगी नये शरीर और चित्तों की रचना कर सकता है। पुनः ऋषि जी लिखते हैं-"निमित्त-कारण दो प्रकार के हैं। एक सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्त-कारण परमात्मा। दूसरा-परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनाने वाला साधारण निमित्त-कारण जीव।" (सत्यार्थ० ८ वें समु० पृ० १७१)

इसमें ऋषि जी ने बतलाया है कि मुख्य निमित्त-कारण परमेश्वर है। उसकी बनाई हुई वस्तुओं में से लेकर जीव अन्य वस्तुओं का निर्माण करता है, परमाणुओं को लेकर नये शरीरादि नहीं बना सकता।

प्रश्न-जो अनेक शरीरों को धारण करने की बात योगी के विषय में आती है, उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर-उसका अभिप्राय यह है कि योगी के ज्ञान, बलादि से अनेक मनुष्य, पशु-पक्षियों का पालन-पोषण होता है। जैसे कि ऋषि दयानन्द जी के ज्ञान और शारीरिक बल से सहस्रों मनुष्यों, पशु-पक्षियों की रक्षा हुई। एक योगी के ज्ञान से अज्ञान का नाश और ज्ञान की वृद्धि, असत्य, अन्याय का नाश, सत्य की वृद्धि, वैर का परित्याग और प्रेम का विकास होता है। इससे अनेक प्राणियों का पालन-पोषण एवं धारण होता है। इसी कारण से योगी को अनेक प्राणियों के शरीर-धारण करने वाला कहा है। उसका अभिप्राय यह नहीं है कि योगी अनेक मनुष्य, पशु-पक्षियों के शरीर-धारण अर्थात् बनाकर उनसे व्यवहार की सिद्धि करता है। जो लोग यह मानते हैं कि योगी मनुष्य-शरीर को छोड़कर पशु-पक्षी आदि का शरीर धारण कर लेता है, उनकी यह मान्यता प्रमाण-विरुद्ध होने से असत्य है। क्योंकि ऋषि-दयानन्द जी ने आर्योद्देश्यरत्नमाला में लिखा है कि-"जो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त बनी रहे वह जाति कहाती है।" यदि योगी अन्य पशु आदि प्राणी का शरीर धारण कर लेवे, तो वह मरणपर्यन्त कहाँ रहा? और इसका खण्डन पूर्व भी किया जा चुका है-कि योगी शरीर, चित्त आदि की रचना नहीं कर सकता। क्योंकि जीव एकदेशी है। जिस शरीर में रहेगा, वही जीवित और अन्य मृत हो जायेंगे। अतः अनेक शरीरों को बनाकर उनको धारण करना असत्य है।

प्रश्न-यह जो कहा जाता है कि योगी पाषाण शिला में प्रवेश कर जाता है और पुनः उसी समय पूर्ववत् स्थूलशरीर बना लेता हैं, इसका वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर-यह धारणा निराधार है क्योंकि प्रथम तो शिला में घुसने जैसी स्थिति बनाने तक ही जीवन समाप्त हो जायेगा। पुनः शिला में प्रवेश कौन करेगा? यदि घुसना मान भी लिया जाय, तो उसी समय नया शरीर सात धातुओं से युक्त वृद्धि, ह्रास वाला बनना असम्भव है। अतः यह बात

सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से त्याज्य है। हाँ ! यह तो सम्भव है कि बुद्धि से उसकी अन्तः स्थिति का विचार करे और उसी को अन्दर प्रवेश होना कहा जाय, शरीर से नहीं।

अब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है कि क्या मोक्ष-प्राप्ति के लिए सब सिद्धियाँ अनिवार्य हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए सब सिद्धियाँ अनिवार्य नहीं हैं। इस विषय में निम्न प्रमाण देखिए-

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा।

(योग० ३। ५५ पर अवतरणिका)

संयम के द्वारा जिसको विवेकजज्ञान प्राप्त हो गया है अथवा नहीं हुआ है-**सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति** (योग० ३। ५५) सूत्र का अभिप्राय यह है कि संयम से जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह ज्ञान हो वा न हो, परन्तु प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा-परमात्मा का ठीक प्रकार से ज्ञान होने पर मोक्ष हो जाता है।

"एतस्यामवस्थायाँ कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिनः इतरस्य वा" (योग० ३।५५ पर व्यासभाष्य)। इस व्यास-भाष्य से नितान्त सिद्ध है कि सब सिद्धियाँ=विभूतियाँ मोक्षप्राप्ति के लिए अनिवार्य नहीं हैं। (ईश्वरस्य) प्राप्त कर लिया है सिद्धियों को जिस जीव ने (अनीश्वरस्य) जिसने सिद्धयों को प्राप्त नहीं किया है, उस जीव को भी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वृत्तियों का निरोध होना अनिवार्य है। यथा-**अभ्यास-वैराग्याभ्याँ तन्निरोधः** (योग० १। १२) परन्तु कण्ठकूप में संयम करने से जो कुछ काल के लिये भूख-प्यास शान्त करने की सिद्धि मिलती है, वह आवश्यक नहीं है। प्राण पर कुछ अधिकार होना तो आवश्यक है परन्तु १० वा १५ मिनट तक रोकना आदि मुक्ति के लिए अनिवार्य नहीं है। प्राणायाम के विषय में एक लेख ब्रह्मचारी धीरेन्द्र स्वामीजी का निकला था। उसमें लिखा था कि जबतक सतत दो दिन पर्यन्त प्राण को रोकने का अभ्यास न किया जाय तब तक कोई भी योगी नहीं बन सकता किन्तु यह बात प्रमाणों से सिद्ध न होने से मिथ्या है। ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश ९ वें समु० में मुमुक्षु के लिए न्यून से न्यून प्रति दिन २ घंटे पर्यन्त ध्यान करना आवश्यक बतलाया है। और उसको प्रातः सायंकाल

में विभाजित कर लेवें तो एक घंटा ही सतत ध्यान के लिए बनता है । इससे सिद्ध है कि दैनिक दो घंटे के ही ध्यानाभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । ६ वा १८ घंटे आदि मुक्ति के लिए अनिवार्य नहीं हैं । इससे यह भी खण्डन हो जाता है कि घण्टों तक प्राणायाम करना मुक्ति के लिए आवश्यक है ।

व्यवहार में यम-नियमों का पालन और प्रतिदिन दो घंटे समाधि लगाना मुक्ति के लिए अनिवार्य है । सभी सिद्धियों को प्राप्त करना मोक्ष के लिए आवश्यक नहीं है ।

जब लोगों ने यह अन्ध-परम्परा चलाई कि योगी ईश्वर के तुल्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हो जाता है और वह सृष्टि को भी बना या बिगाड़ सकता है, तो अनेक लोग अज्ञान में पड़कर मोक्ष के आनन्द से वञ्चित रह गये । और अनेक लोगों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इस मिथ्या धारणा का प्रचार किया कि योगी परमात्मा के समान होता है तथा उस योगी को उपासना करने से मोक्ष मिल जाता है । मैं योगी हूं, मेरी सब उपासना किया करें, इत्यादि मनचाहा आचरण करवाकर मनुष्य-जाति को सन्मार्ग से भटका दिया । इससे संसार की महती हानि हुई है, और आज भी हो रही है ।

इस प्रकार दूसरी मान्यता से भी महान् आघात पहुंचा । लोगों ने बिना सोचे-विचारे ही इस बात का प्रचार किया कि मुक्ति के लिए सभी सिद्धियाँ प्राप्त करना अनिवार्य है । इससे अनेक लोग योगाभ्यास को छोड़ बैठे, कि यह कार्य हमसे सिद्ध हो नहीं सकता । हम लगातार छः घंटे एक आसन पर नहीं बैठ सकते । स्वामी दयानन्द जी जितना बल भी प्राप्त नहीं कर सकते । अठारह घंटे की समाधि नहीं लगा सकते । संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियों को सिद्ध नहीं कर सकते । अतः योगाभ्यास से मुक्ति की आशा छोड़ देना ही उत्तम है । इस प्रकार से बहुत हानियाँ इस मान्यता से हुई हैं ।

इस लेख में दो बातों पर विशेष विचार किया गया है । एक यह कि योग के नाम से सुनी-लिखी सिद्धियाँ सब सत्य नहीं और जो सत्य हैं वे मोक्ष-प्राप्ति के लिए सब अनिवार्य नहीं हैं । अतः इन मिथ्या धारणाओं से दूर रहकर तन, मन, धन से मोक्ष को सिद्ध करना चाहिये ।

१४

क्या सब प्रचलित योग-मार्ग सत्य हैं, और उनसे मोक्ष की सिद्धि सम्भव है ?

संसार का प्रत्येक प्राणी समस्त दुःख और बन्धनों से छूटकर पूर्ण सुख की प्राप्ति करना चाहता है। परन्तु समस्त दुःखों की निवृत्ति और पूर्ण सुख की प्राप्ति वास्तविक योग के बिना सम्भव नहीं है।

जिस योग से मनुष्य का मुख्य प्रयोजन सिद्ध होता है उसका जानना अत्यन्त कठिन हो गया है योग-जिज्ञासु जब तक एक बाधा को पार करता है, तब तक झट दूसरी बाधा मार्ग में उपस्थित हो जाती है। योग-मार्ग में आने वाली कुछ समस्याओं का समाधान इसके पूर्व लेखों में कर चुका हूँ। और एक समस्या का समाधान इस लेख में करने का प्रयास करूँगा। वह समस्या यह है कि आजकल ईश्वर-भक्ति के नाम से सैकड़ों पद्धतियाँ लोक में देखने में और सुनने में आती हैं। वे पद्धतियाँ परस्पर विरुद्ध होती हैं, उनको देखकर जब कोई तर्कबुद्धि-मनुष्य शंका करता है कि जब परमात्मा की कोई मूर्ति ही नहीं बन सकती, तो उसकी मूर्ति बनाकर क्यों पूजते हैं ? एक ईश्वर को निराकार मानकर भक्ति करता है, तो दूसरा उसको साकार मानकर करता है। एक कहता है कि सब प्राणियों के साथ वैरभाव का परित्याग करके प्रेम से वर्तने से ईश्वर मोक्ष प्रदान करता है तो दूसरा कहता है कि अमुक-अमुक प्राणियों की ईश्वर के नाम से हत्या करने से और उनका मांस खाने से ईश्वर मोक्ष में भेज देता है। एक ईश्वर को सर्वव्यापक मानकर उसकी उपासना करता है और दूसरा परमधाम, सातवें आसमान आदि एकदेश में मानकर उसकी उपासना करता है। इस प्रकार सहस्त्रों, लाखों, करोड़ों लोगों के साध्य और साधनों में परस्पर विरोध क्यों है ?

इस योग-जिज्ञासु को उत्तर मिलता है कि ये सब प्रचलित योग-मार्ग सत्य हैं और इनमें से किसी पर भी चलने से मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। इतना नियम मोक्ष की सिद्धि में अनिवार्य है कि उस भक्त का अपने

उपास्य पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। जैसे कोई कालीमाई कलकत्ते

वाली की पूजा करता है, तो पूर्ण दृढ़विश्वास के साथ करनी चाहिये। ऐसा करने से कालीमाई निश्चितरूपेण मुक्ति में पहुँचा देगी। इस प्रकार से यदि कोई व्यक्ति किसी पत्थर के टुकड़े को अपने घर में रखकर पूर्ण विश्वास के साथ नियमपूर्वक उसकी पूजा अर्थात् उसको स्नान कराना, भोग लगाना, दीपक जलाना, उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना इत्यादि करे तो वह पत्थर भी उसका बेड़ा पार कर देवेगा । अतः सब योगमार्ग सत्य हैं, किसी पर भी पूर्ण विश्वास के साथ चलो, तो भवसागर से पार हो जाओगे।

इस उपरिलिखित मान्यता को सुनकर अनेक लोग बिना सोचे-विचारे ही आंख मींचकर चल पड़ते हैं। वे स्वयं तो दुःखसागर में डूबते ही हैं, अपने परिवार और अनुयायियों को भी उलटे मार्ग पर चलने का आदेश देकर मनुष्य-जीवन के मुख्य लक्ष्य मोक्ष से वञ्चित रखते हैं। केवल इतना कहने से कि सब योग-मार्ग सत्य हैं अथवा असत्य हैं, कोई सत्यासत्य का निर्णय नहीं होता। अतः प्रमाण और युक्तियों से परीक्षण करना आवश्यक है।

सब प्रचलित योग-मार्ग सत्य नहीं हैं क्योंकि इनके साध्य में और साधनों में परस्पर विरोध है। एक विषय में परस्पर दो विरुद्ध बातें सत्य कदापि नहीं हो सकतीं। जैसे किसी ने अपना यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि बिना कारण के कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे कि मिट्टी के बिना घड़ा और सोने के बिना आभूषण नहीं बन सकता। दूसरा व्यक्ति इसके विपरीत अपनी मान्यता की स्थापना करता है कि बिना मिट्टी के घड़ा और बिना सोने के आभूषण बन जाता है। इस प्रकार एक विषय में दो विपरीत मान्यताएँ सत्य नहीं हो सकतीं।

जो लोग सब योग मार्गों को सत्य मानते हैं, उनके साध्य ईश्वर वा मोक्ष में परस्पर विरोध है। जैसे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं और वेद में भी ईश्वर को सर्वव्यापक बतलाया है। यथा **'स पर्यगात्०'** (यजु० ४०।८) वह परमात्मा सर्वव्यापक है। **'स ओतप्रोतश्च विभूः प्रजासु०'** (यजु० ३२। ८) वह परमात्मा ताने-बाने की भांति प्रकृति आदि पदार्थों में व्यापक है।

इस सिद्धान्त से नितान्त विपरीत ब्रह्माकुमारी सृष्टि के बाहर ईश्वर को परमधाम में, इस्लाम मत वाले सातवें आसमान पर, ईसाई लोग चौथे आसमान पर एकदेश में मानते हैं। यदि सर्वव्यापक ईश्वर है, तो एकदेश में ईश्वर को मानने वालों की बात असत्य है और यदि एकदेश में ईश्वर को मानने वालों की बात सत्य है तो सर्वव्यापक मानने वालों की बात सत्य नहीं हो सकती।

ऋषि दयानन्द, पतञ्जलि, गौतम (न्यायदर्शनकार)-ईश्वर, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् तथा अनादि मानते हैं। वेद में भी **'द्वा सुपर्णा सयुजा०'** (ऋग् १। १६४। २०, मुण्डको० ३ मु०। १ख०। १ श्लोक) मन्त्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि स्वीकार किया है। इस मन्त्र की व्याख्या ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थ० के ८ वें समु० में की है।

दूसरे योगाभ्यास करने वाले शंकराचार्य के अनुयायी केवल ब्रह्म को ही अनादि मानते हैं, जीव और प्रकृति को नहीं।

जैनमत वाले भी बड़ी कठोर तपस्या से योगाभ्यास करते हैं। कुछ तो यात्रा के अवसर पर यानों का अवलम्बन भी नहीं करते, पैदल ही दूर-दूर तक जाते रहते हैं। कुछ जैन लोग तो नितान्त वस्त्रविहीन होकर योगाभ्यास करते हैं। इनको कुछ लोग सबसे बड़े सिद्धयोगी मानते हैं। परन्तु ये जैनमत वाले जीव और प्रकृति को ही मानते हैं, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

इनमें से यदि तीनों को अनादि मानने वालों का मत सत्य है, तो एक और दो को अनादि मानने वालों का मत असत्य है। और यदि एक वा दो को अनादि मानने वालों का मत सत्य है तो तीनों को अनादि मानने वालों का मत असत्य है, दोनों का मत सत्य नहीं हो सकता।

ऋषि दयानन्द जी ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयकर्त्ता मानते हैं और ईश्वर में ज्ञानादि अनेक गुण मानते हैं तथा जीव की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत स्वामी योगेश्वरानन्द जी (मुनि की रेती वाले) जिनको कुछ आर्यसमाजी कहलाने वाले भी महान् योगी और अपना योग-गुरु मानते हैं, वे ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानते, ईश्वर को

गुणहीन मानते अर्थात् ईश्वर में कोई गुण नहीं मानते और जीव की सत्ता को भी नहीं स्वीकारते । और व्यासऋषि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्त्ता ईश्वर को मानते हैं । यथा-**'जन्माद्यस्य यतः'** । (वेदा० १ । २) ।

अब इनमें या तो ऋषि दयानन्द और व्यास जी योगी हैं, अथवा स्वामी योगेश्वरानन्द जी योगी हैं । तीनों योगी नहीं हो सकते ।

इसी प्रकार से मुक्ति के विषय में भी विरोध है । एक योगाभ्यासी कहता है कि मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्म में मिल जाता है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती । दूसरा कहता है कि मुक्तावस्था में जीव की पृथक् सत्ता रहती है । एक यह मानता है कि मुक्ति के पश्चात् जीव का पुनर्जन्म होता है । दूसरा कहता है कि एक बार मुक्ति होने पर जीव पुनः जन्म नहीं लेता । एक की मान्यता यह है कि मोक्ष प्राप्त होने पर जीव ईश्वर की भांति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होकर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय भी कर सकता है । परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इस मान्यता को मिथ्या मानतें हैं ।

इस प्रकार योगाभ्यास करने वालों का जो साध्य है ईश्वर वा मोक्ष, उस साध्य में परस्पर नितान्त विरोध है । सब योग-मार्गों को सत्य मानने वालों के पक्ष में एक अन्य दोष यह है कि जिस प्रकार से इनके साध्य ईश्वर और मोक्ष में परस्पर विरोध है, उसी प्रकार से इनके साधनों में भी विरोध है ।

वेद के मानने वाले कहते हैं-'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति' (यजु० ३१ । १८) उसी परमात्मा को जानकर जन्म-मरण के दुःख से पार हो सकता है और कोई भी इस दुःख से छूटने का उपाय नहीं ।

जैनमत वाले कहते हैं, न तो कोई जीवों से अतिरिक्त ईश्वर है और न मुक्ति-प्राप्ति में ईश्वर का जानना आवश्यक है ।

नवीन वेदान्ती शंकराचार्य के अनुयायी कहते हैं कि अपने को ब्रह्म मानकर योगाभ्यास करो तो झट मुक्ति हो जाती है । स्वामी दयानन्द जी और योगदर्शनकार पतञ्जलि ईश्वर, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् जानकर योगाभ्यास करने से मोक्ष-प्राप्ति मानते हैं ।

योगदर्शनकार अभ्यास और वैराग्य को योग का साधन मानते हैं और

व्यासजी का भी यही मत है। योगिराज श्रीकृष्णचन्द्र ने अभ्यास और वैराग्य

को मन के वशीत्व का साधन बतलाया है यथा-

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहः चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। (गीता ६ । ३५)

परन्तु महेश नामक योगी जी के सुने ऋषिकेश में टेलीविजन के भाषणानुसार "योग के लिये अभ्यास और वैराग्य की कोई आवश्यकता नहीं है। और प्राचीन ग्रन्थों में जो अभ्यास और वैराग्य को योग का साधन लिखा, उसको निकालकर संशोधन कर देना चाहियें"।

इस्लाम-मत के मानने वाले कुछ निरपराध प्राणियों को मारकर उनका मांस खाते हैं और उस नृशंसकार्य को मुक्ति का साधन मानते हैं।

जैनमत के मानने वाले जीवों की हत्या करने से इतने डरते हैं कि वे जल को भी उष्ण नहीं करते और मुख पर पट्टी बांधे रहते हैं कि कभी कोई जीव इनके श्वास द्वारा मर न जाय। ये कहते हैं कि इस प्रकार से हम जीवों को मरने से न रोकें तो हमारी मुक्ति रुक जायेगी।

योगदर्शनकार कहते हैं कि पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। योगदर्शन में इसलिये यम-नियमादि का पालन सर्वथा स्वीकार किया है, यथा-"**जाति देशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्**" (योग० २ । ३१)। परन्तु इसके विपरीत मान्यता वाले तथा कथित आचार्य रजनीश जैसे अनेक लोग संसार में मिलते हैं।

इन उपरिलिखित मोक्ष के साधनों में एक साधन दूसरे का विरोधी है। यदि एक को सत्य माना जाय तो दूसरा सत्य नहीं हो सकता।

जिस प्रकार से यह योग के विषय में अन्धपरम्परा है उसी प्रकार से ऋषि-दयानन्द जी के समक्ष एक धर्म के नाम से अन्धपरम्परा आई, वह यह कि '**सब धर्म सत्य हैं**, किसी का भी खण्डन-मण्डन नहीं करना चाहिए' स्वामी जी महाराज ने इस मत का तीव्र खण्डन किया। पुनः उनके समक्ष **प्रश्न** उपस्थित हुआ कि-

"आप सबका खण्डन करते ही आते हो, परन्तु अपने-अपने धर्म में सब

अच्छे हैं, खण्डन किसी का न करना चाहिए। जो करते हो तो आप इनसे विशेष क्या बतलाते हो ?

उत्तर-धर्म सबका एक होता है वा अनेक ? जो कहो अनेक होते हैं, तो एक-दूसरे के विरुद्ध हैं वा अविरुद्ध ? जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता। जो कहो कि अविरुद्ध हैं, तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है।

इसलिए धर्म और अधर्म एक ही है, अनेक नहीं, यही हम विशेष कहते हैं कि जैसे सब सम्प्रदायों के उपदेशों को कोई राजा इकट्ठा करे तो एक सहस्र से कम न होंगे। परन्तु इनका मुख्य भाग देखो तो पुरानी, किरानी, जैनी और कुरानी चार ही हैं। क्योंकि इन चारों में सब सम्प्रदाय आ जाते हैं"। (सत्यार्थ० ११ समु० पृ० २७५, ३२२)

जो बात ऋषि दयानन्द जी ने धर्म के विषय में कही है, वही योग के विषय में भी जान लेनी चाहिए। जैसे धर्म और अधर्म एक ही है, अनेक नहीं अर्थात् धर्म एक ही है, अनेक नहीं और अधर्म एक ही है, अनेक नहीं। उसी प्रकार योग एक ही है, अनेक नहीं और अ-योग एक ही है, अनेक नहीं।

जो लोग सब योग-मार्गों को सत्य मानते हैं, वे अपने पक्ष की सिद्धि में एक दृष्टान्त देते हैं कि सब योग-मार्गों से एक ही प्रयोजन सिद्ध होता है। चाहे उनके मार्ग परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हों। जैसे कि रोहतक से चलकर दिल्ली के लालकिले में जाने वाले दो मनुष्य भिन्न-भिन्न मार्ग से चलते हैं। एक गुड़गावां होते हुए लालकिले पहुंचता है। और दूसरा बहादुरगढ़ होते हुए लालकिले में पहुंचता है। इन दोनों का मार्ग भिन्न-भिन्न होते हुए भी लालकिले में जाने का प्रयोजन एक ही सिद्ध होता है। अतः सब योगमार्गों से एक ही मोक्ष-सिद्ध होने से सब सत्य हैं।

यह सब योगमार्गों को सत्य सिद्ध करने के लिए दिया दृष्टान्त उन्हीं के पक्ष का खण्डन करता है। क्योंकि लालकिले का स्वरूप और स्थान दोनों व्यक्तियों के लिए एक-जैसा है, भिन्न-भिन्न नहीं। परन्तु सब योग-मार्गों को सत्य मानने वालों का ईश्वर वा मोक्ष परस्पर विरुद्ध है। जैसे कि पूर्व लिखा जा चुका है, कि एक ईश्वर को सर्वव्यापक मानता है, तो दूसरा

परमधाम वा सातवें आसमान पर मानता है, कोई साकार और कोई निराकार मानता है ।

लालकिले में जाने वाले दो व्यक्तियों की दिशा सर्वथा अनुकूल है । जिससे वे दोनों एक अभीष्ट स्थान पर पहुंच सकते हैं । यदि रोहतक से चलकर लालकिले में पहुंचने वाले दो व्यक्तियों की चलने की दिशा विरुद्ध होती तो लालकिले में अनन्त जन्मों में भी दोनों नहीं पहुंच सकते । इसी प्रकार योगाभ्यास करने वालों की दिशा विरुद्ध है और वे सभी लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकते । इसीलिए लक्ष्य और साधनों के परस्पर विरुद्ध होने से यह दृष्टान्त अज्ञान-कल्पित है ।

प्रश्न-इस मान्यता को स्वीकार कर लेने में क्या हानि है ?

उत्तर-प्रथम हानि-तो यह है कि सहस्रों लोग तन, मन, धन को मुक्ति के लिए लगाते हैं परन्तु परिणाम में उनको दुःख ही मिलता है । क्योंकि उन्होंने जो मुक्ति का मार्ग नहीं था उसको मुक्तिप्रद समझ लिया ।

दूसरी हानि-यह है कि इन परस्पर विरुद्ध मतों को देखकर अनेक लोग योगाभ्यास, ईश्वर, पुनर्जन्मादि को छोड़कर नास्तिक बन जाते हैं ।

तीसरी हानि-यह है कि कुछ बुद्धिजीवी इस मूर्खतापूर्ण मान्यता को देखकर उस समाज को ही छोड़ देते हैं । क्योंकि मूर्खों की और बुद्धिमानों की परस्पर सन्धि नहीं हो पाती ।

चौथी हानि-बिना प्रमाण और तर्क के किसी मान्यता को मानकर सब जड़बुद्धि होते हैं । कोई देखना चाहे तो कुम्भ के मेले पर देख सकता है । इत्यादि अनेक हानियाँ इस मान्यता को मानने से होती हैं ।

प्रश्न-इस समस्या का समाधान क्या है ?

उत्तर-जो सत्य योग-विद्या को जानता हो उसी को योग-प्रशिक्षण का अधिकार मिलना चाहिये, अन्यों को नहीं ।

प्रश्न-यह कैसे ज्ञात हो कि यह सत्य योग-विद्या है ?

उत्तर-योगदर्शनकार पतञ्जलि जी महाराज ने योग का स्वरूप बतलाया

है । उसके अनुसार जो भी हो वह सत्य और उसके विपरीत को मिथ्या समझना चाहिए ।

प्रश्न–यह कैसे माना जाय कि योगदर्शनकार ने जो योग का स्वरूप बतलाया है, वह सत्य है ?

उत्तर–उसके वेदानुकूल होने से और वेद सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान होने से उसमें कहीं भूल नहीं हो सकती तथा लाखों, करोड़ों ऋषि सृष्टि के आदि से लेकर ऋषि-दयानन्द जी पर्यन्त हुए हैं, उन्होंने जिस योग को माना है उसी का पतञ्जलि जी ने योगदर्शन में वर्णन किया है । और यह सृष्टिक्रम के अनुकूल भी है । अतः इसको सत्य मानने में कोई भी दोष नहीं है ।

सब विद्वान् और राजा मिलकर समस्त संसार की योगपद्धतियों को एकत्रित करें और इन सब योगमार्ग के अनुयायियों का प्रेमपूर्वक परस्पर शास्त्रार्थ करवायें, उसका उद्देश्य केवल सत्यासत्य को जानने का ही हो, किसी को हराने वा दुःख देने का नहीं । न्यायदर्शन के नियमों के आधार पर शास्त्रार्थ होना चाहिए। उससे जो-जो सत्यसिद्ध हो उस-उसको सब स्वीकार करें और असत्य को छोड़ देवें । पुनः उसी पद्धति का सब विद्यालयों में पठन-पाठन हो । योग को समझने हेतु वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों का पढ़ना-पढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है । यह बात बहुत ही प्रसन्नता की है कि भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने अपने भाषण में कहा था कि "योग का प्रचार केवल राजाओं से नहीं हो सकता, उसमें प्रजा का सहयोग भी आवश्यक है ।" ये मैंने भू० प्रधानमन्त्रीजी के भाव लिखे हैं, शब्द नहीं । मैं योग-प्रशिक्षण करने और करवाने वाले राजाओं तथा विद्वानों से यह निवेदन करना चाहता हूँ कि उन्होंने योग का प्रशिक्षण वेद-ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के आधार पर नहीं किया, तो इसका परिणाम यह होगा कि योग को सिखाने और सीखने वाले महान्धकार में गिरकर नाना प्रकार के कष्ट भोगेंगे और उससे योग भी कलंकित हो जायेगा । अतः सर्वहितार्थ योग-प्रशिक्षण में पूर्वोक्त नियमों का होना अनिवार्य है ।

इस लेख में इस भ्रान्त धारणा का खण्डन किया है कि **'सब प्रचलित योगमार्ग सत्य हैं, और प्रत्येक पर चलने से मोक्ष मिल जाता है ।'** और कुछ योग के विकासार्थ उपाय भी बतलाये हैं । आशा है कि बुद्धिमान् लोग स्वयं लाभ उठायेंगे और अन्यों को लाभान्वित करेंगे ।

१५

विदेह और प्रकृतिलय योगी विषयक भ्रान्ति

क्या विदेह और प्रकृतिलय योगी शरीर नष्ट होने के पश्चात् प्रकृति आदि जड़ पदार्थों को आत्मा मानकर उसकी उपासना करते हैं ? और बहुत वर्षों तक कैवल्य=मुक्ति जैसा अनुभव करते हैं ?

योगदर्शन में मुख्यरूपेण दो प्रकार की समाधि मानी गई है । एक **सम्प्रज्ञात** और दूसरी **असम्प्रज्ञात** । दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद किए गए हैं । एक का नाम **'भवप्रत्यय'** और दूसरी का नाम **'उपायप्रत्यय'** है ।

अब यह बतलाते हैं कि भवप्रत्यय=असम्प्रज्ञात समाधि किसकी होती है ।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् (योग० १।१९) इसका अर्थ यह है कि भवप्रत्यय=असम्प्रज्ञात समाधि विदेह और प्रकृतिलय योगियों की होती है ।

वाचस्पति जी की मान्यता –

अब इस विषय पर विचार किया जाता है कि विदेह और प्रकृतिलय–योगियों का क्या स्वरूप है ? वाचस्पति जी **'भव'** शब्द का अर्थ लिखते हैं –

"भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति भवोऽविद्या" जिसमें जन्तु उत्पन्न हो वह अविद्या है । **'प्रत्यय'** शब्द का अर्थ वाचस्पति जी ने 'कारण' किया है ।

'विदेह' शब्द का अर्थ वाचस्पति जी करते हैं–जो देह छूटने के पश्चात् भूतों वा इन्द्रियों को आत्मा मानकर उनकी उपासना करते हैं, वे दस मन्वन्तर तक समाधि अवस्था में रहते हुए ही कैवल्य=मोक्ष जैसा अनुभव करते हैं ।

इसी प्रकार जो भूतों को आत्मा मानकर उनकी उपासना करते हैं वे सौ मन्वन्तर समाधि अवस्था में रहते हुए मोक्ष–जैसा अनुभव करते हैं ।

वाचस्पति जी **'प्रकृतिलय'** का अर्थ करते हैं–जो मरने के पश्चात् प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा इनमें से किसी एक को आत्मा मानकर इनकी उपासना करते हैं, वे विदेहों से भी लम्बे काल तक समाधि–अवस्था

में रहते हुए मोक्ष-जैसा अनुभव करते हैं, वे प्रकृतिलय योगी कहाते हैं ।

वाचस्पति जी से अतिरिक्त अनेक टीकाकारों ने भी इसी मान्यता को स्वीकार किया हैं, जो वाचस्पति जी की है ।

कुछ लोगों ने समाधि को छोड़कर शेष वाचस्पति जी की मान्यता को स्वीकार किया है अर्थात् वे लोग इस अवस्था में समाधि को स्वीकार नहीं करते ।

वाचस्पति जी की (योगदर्शन तथा व्यासभाष्य से विरुद्ध) मान्यता पर विचार-

अब यह विचार किया जाता है कि वाचस्पति और अन्य लोगों की यह मान्यता सत्य है वा असत्य ?

वाचस्पति जी ने **'भव'** का अर्थ अविद्या किया है और कहा है कि अविद्या है कारण जिस असम्प्रज्ञात समाधि का, वह **'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात'** समाधि है अर्थात् अविद्या को इस समाधि का उपाय मानते हैं । यह कितनी आश्चर्य की बात है । अविद्या तो असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय हो ही नहीं सकती । क्योंकि इसका उपाय तो विवेक और परवैराग्य है । वाचस्पति जी का यह अर्थ योगदर्शनकार के अभिप्राय से नितान्त विपरीत है ।

योगदर्शनकार ईश्वर, जीव और प्रकृति के वास्तविक ज्ञान और पर-वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि मानते हैं । वाचस्पति जी की और पतञ्जलि जी की ये दोनों मान्यतायें परस्पर विरुद्ध होने से दोनों सत्य नहीं हो सकतीं । पतञ्जलि जी कहते हैं कि **"विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपतिष्ठम्"** (योग० १।८) विपर्यय का अर्थ है मिथ्याज्ञान । यह मिथ्याज्ञान समाधि का विरोधी है । जब तक मनुष्य जड़ को चेतन और चेतन को जड़ समझता है, तब तक समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता । विपर्यय एक वृत्ति है, जो कि उलटा ज्ञान है । पतञ्जलि जी कहते हैं कि यह विपर्यय-ज्ञान समाधि प्राप्ति में बाधक है । इसकी उपस्थिति में समाधि नहीं हो सकती ।

व्यास जी कहते हैं **"तस्य परं वैराग्यमुपायः"** (योग० १।१८ पर) । उस असम्प्रज्ञात समाधि का परवैराग्य उपाय है और परवैराग्य वास्तविक ज्ञान से होता है, अज्ञान से नहीं ।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा (योग० १।४८)

उस सप्रम्ज्ञात समाधि की परिपक्वावस्था में बुद्धि सत्य को ही धारण करती है, असत्य को नहीं । व्यास जी इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं

कि-"**अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति । न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोप्यस्तीति**" । वह प्रज्ञा अर्थानुसार है । सत्य को ही धारण करती है, असत्य की तो वहां पर गन्ध भी नहीं है ।

असम्प्रज्ञानत समाधि करने से पूर्व सम्प्रज्ञात समाधि में निपुण होना अनिवार्य है जो मनुष्य सम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता नहीं रखता, वह असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकता ।

पतञ्जलि जी और व्यास जी असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करने वाले मनुष्य की योग्यता बतलाते हैं-

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् (योग० १।१६)-

तत्परम्-वह उत्कृष्ट वैराग्य है, जिसमें पुरुष-जीव और ईश्वर का परिज्ञान होने से प्रकृति=सत्त्व गुण, रजोगुण, तमोगुण से भी जीव की आसक्ति हट जाती है ।

प्रथम सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्वावस्था प्राप्त कर और आत्मा-परमात्मा का वास्तविक ज्ञान होने पर वैराग्य द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है । इस प्रकार **'भवप्रत्यय'** और **'उपायप्रत्यय'** **असमप्रज्ञात समाधि का उपाय** ईश्वर, जीव, प्रकृति का वास्तविक ज्ञान और परवैराग्य है ।

श्री वाचस्पति जी **भव-प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि** का उपाय अविद्या को मानते हैं । यह उनकी मान्यता ऋषियों के विरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है । और वाचस्पति जी की यह मान्यता वेदविरुद्ध भी है ।

श्री वाचस्पति जी का यह कथन भी ठीक नहीं कि जो प्रकृति, महतत्त्वादि जड़पदार्थों को आत्मा समझकर उनकी उपासना करते हैं, वे मुक्ति-जैसा अनुभव करते हैं । यह वेद के विरुद्ध है । वेद में कहा है कि-

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ।। (यजु० ४०।९)

इस वेदमन्त्र में यह बतलाया है कि जो लोग प्रकृति की उपासना करते हैं, वे अज्ञान को प्राप्त होकर क्लेशों को भोगते हैं । और जो प्रकृति से महतत्त्व, अहंकार , तन्मात्रा, पृथ्वी आदि की उपासना करते हैं, वे उनसे भी अधिक अज्ञान को प्राप्त होकर दुःखों को भोगते हैं ।

इससे यह सिद्ध है कि प्रकृति आदि जड़ पदार्थों को आत्मा मानकर उनकी उपासना करने वाले मुक्ति-जैसा अनुभव कभी भी नहीं कर सकते ।

पतञ्जलि जी महाराज ने योगदर्शन के २।४ सूत्र में अविद्या को समस्त दुःखों का कारण बतलाया है, सुख को नहीं। वाचस्पति जी ने जो यह लिखा है कि 'विदेह' और 'प्रकृतिलय' योगी बनने के पश्चात् इतने वर्षों तक समाधि अवस्था में रहते हैं और मुक्ति-जैसा अनुभव करते हैं। यह भी प्रमाणशून्य होने से उचित नहीं है। और वेद तथा वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों में इसकी पुष्टि करने वाले वचन नहीं मिलते। वाचस्पति जी की मान्यता का आधार पुराण है।

ऋषियों ने जीव की दो स्थितियाँ स्वीकार की हैं-

(१) मोक्ष को प्राप्त करना (२) जन्म-मरण के चक्र में रहना। जब जीव मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बन जाता है, तब ईश्वर उसको मोक्ष में भेज देता और जब उस योग्य नहीं होता तो जन्म-मरण में आता रहता है।

ऐसी अवस्था तीसरी नहीं है कि जिसमें पूर्ण मोक्ष प्राप्त तो न हो और जन्म-मरण के चक्र से छूटकर लम्बे काल पर्यन्त मुक्ति-जैसा अनुभव करता रहे, पुनः जन्म-मरण में आये।

यह तीसरी मान्यता वाचस्पति जी की मनघढ़न्त है। इसका आधार वायुपुराण प्रतीत होता है। क्योंकि वाचस्पति जी ने वायु पुराण के ही वचन अपनी टीका में लिखे हैं।

वाचस्पति जी द्वारा मृत्यु के पश्चात् शरीर के न रहने पर समाधि का मानना निराधार है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है। जब मनुष्य भयंकर रोग से आक्रान्त होता है, तब सुध-बुध खो देता है। उसको यह भी पता नहीं होता कि मैं कहाँ पड़ा हूँ। इसी प्रकार भयंकर चोट लगने पर मूर्छित हो जाता है। जब मूर्छित करने के लिए औषध सुंघाई जाती है, तो उसकी अवस्था यह होती है कि शरीर को फाड़ने, चीरने पर भी कोई अनुभव नहीं होता। जब किसी शस्त्र से शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, तो जीव को किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता। ऐसी अवस्था में चाहे कोई कितना ही सिद्धयोगी क्यों न हो, परन्तु समाधि नहीं लगा सकता। जब शरीर के रहते हुए ही यह अवस्था है, तो शरीर के नष्ट होने के पश्चात् समाधि लगाना नितान्त असम्भव है।

योगदर्शन पाद २ के ३० वें सूत्र अर्थात् **'व्याधिस्त्यानसंशय-प्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध०'** में व्याधि को समाधि का शत्रु बतलाया है। जब व्याधि =रोग प्रबल होता है, तो समाधि भंग हो जाती

है । वास्तविकता तो यह है कि जिन लोगों की न योग में गति है और न शास्त्र की संगति लगाने की योग्यता है, वे योग का व्याख्यान करने बैठ जाते हैं और उससे संसार की महती हानि होती है ।

आज अनेक लोग इस बात को मानते हैं कि शरीर नष्ट हो जाने पर भी योगी लोग लम्बे काल तक समाधि अवस्था में रहते हैं । इस मिथ्या मान्यता का आधार ये दर्शनों की उल्टी टीका करने वाले लोग हैं । इस लिए स्थूल शरीर के बिना न लौकिक कार्य सिद्ध हो सकते हैं और न समाधि सिद्ध हो सकती है ।

भवप्रत्यय, विदेह और प्रकृतिलय शब्दों पर विचार–

अब भवप्रत्यय, विदेह और प्रकृतिलय शब्दों पर विचार किया जाता है कि इनका क्या अभिप्राय है ? **'भव'** शब्द का अर्थ है संसार और **'प्रत्यय'** का अर्थ है ज्ञान ।

संसार में जन्म लेने के पश्चात् मनुष्य रोग, वियोग, भोगों में नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है । दुःखों से छूटने के लिए मनसा, वाचा और शरीर से पूर्ण प्रयास करता है । सांसारिक अनेक दुःखों में से एक मृत्यु का दुःख है । प्रायः मनुष्य यह चाहता है कि मैं कभी मरूँ नहीं, सदा जीवित रहूँ । परन्तु जब वह संसार की स्थिति को देखता है कि जो शरीरधारी मनुष्यादि प्राणी हैं, वे अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं । आज तक एक भी शरीरधारी प्राणी ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जो मरा न हो ।

पुनः वह विचार करता है कि मनुष्य, पशु आदि से अतिरिक्त पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्यादि लोक भी कभी न कभी अवश्य ही विनाश का ग्रास बनेंगे । इस प्रकार संसार के उत्पत्ति, विनाश के चक्र को देखकर मृत्यु आदि दूःखों से छूटने के लिए सत्य की गवेषणा करता है । सत्यासत्य को जानने के लिये वह सर्वस्व की आहुति दे देता है । जिस प्रकार से स्वामी दयानन्द सरस्वती जी बहन की मृत्यु को देरकर अपनी मृत्यु के विषय में विचारने लगे थे । और पुनः चाचा जी की मृत्यु को देखकर भयंकर दुःख का अनुभव किया था । इस मृत्यु दुःख से पार होने के लिये सम्पूर्ण धन, सम्पत्ति को त्यागकर सत्यासत्य–गवेषणा के हेतु घर से निकल पड़े थे ।

इसी प्रकार जो मनुष्य इस जन्म–मरण और नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है और यह जानना चाहता है कि यह संसार क्या है ? क्या यह सदा से बना–बनाया चला आ रहा है वा इसकी कभी उत्पत्ति हुई ? क्या

यह सदा बना रहेगा या नष्ट हो जायेगा ? इस संसार का स्वामी कौन है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए दिन-रात एक बना देता है । इसका परिणाम होता है प्रकृति, जीव, ईश्वर का परिज्ञान । इस ज्ञान से ही पर-वैराग्य की प्राप्ति और उससे भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है । संसार में वास्तविक स्वरूप के परिज्ञान होने से इस समाधि की सिद्धि होती है । अतः इसका नाम 'भवप्रत्यय' है, अर्थात् **'भवात् प्रत्ययः'** भवप्रत्यय=भव से ज्ञान, इसकी प्राप्ति में मुख्य कारण है । अतः इसका नाम पड़ा है । 'भव' शब्द का अर्थ अविद्या मानकर उससे असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि मानना योगदर्शन के विपरीत है । यदि यह मान्यता योगदर्शन की मान ली जाये तो योगदर्शनकार **"वदतो व्याघातदोष"** से युक्त हो जाए, अर्थात् अपनी मान्यता का स्वयं खण्डन करने वाला बन जाय । क्योंकि योगदर्शनकार अविद्या को समाधि का बाधक मानता है । अविद्या है तो समाधि नहीं और समाधि है तो अविद्या नहीं रह सकती ।

विदेह शब्द का अर्थ है देह में रहते हुए भी ऐसी स्थिति में रहना कि जैसे इसका देह है ही नहीं । जब मनुष्य शरीर से आत्मा को पृथक् जान लेता और इसको नाशवान् समझता है, तब देह के रहते हुए भी वह ऐसी स्थिति में रहता है कि उसका देह है ही नहीं । यह भी विदेह-अवस्था का कारण है कि इस शरीर की विचित्र रचना को देखकर अपने को इसे बनाने, पालनादि करने में असमर्थ देखता है, तो शरीर के साथ जीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध टूट जाता है । वह इस शरीर को ईश्वर का समझने लगता है और देह में रहते हुए भी विदेह कहाता है । जैसे-जैसे मनुष्य को आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का वास्तविक ज्ञान होता है वह अपने देह को भूल-सा जाता है, उसको अपने बल-सौन्दर्यादि का कोई अभिमान नहीं होता । वह आर्यसमाज के नियमानुसार यह समझने लगता है कि "सब पदार्थों का निमित्तकारण= आदिमूल परमेश्वर है । यही 'विदेह' शब्द का अभिप्राय है । और जो विदेह शब्द का अर्थ देहरहित माना जाता है, वह इस योगदर्शन के प्रकरणानुसार असंगत है" ।

'प्रकृतिलय' का अर्थ वाचस्पति आदि अनेक लोगों ने प्रकृति, महत्तत्त्वादि को आत्मा मानकर उपासना करने वाला किया है, वास्तव में यह ठीक नहीं है । क्योंकि जड़ पदार्थों को चेतन मानकर उनकी उपासना करने वाले

समाधि-सिद्ध करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकते। प्रकृतिलय का अर्थ है-प्रकृति की सूक्ष्मावस्था को तल्लीन होकर जानने वाले। ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप को जानने के लिए महान् परिश्रम करना पड़ता है।

इन तीन का विशेष परिज्ञान करना असाधारण कार्य है। जब तक मनुष्य प्रकृति के स्वरूप को अच्छे प्रकार नहीं जानता, तब तक उसको छोड़कर ईश्वर की उपासना नहीं करता। जो योगी प्रकृति की वास्तविकता को जानने के लिए तन, मन, धन लगा देता है, सूक्ष्म-स्थूल विकारों को समझने में तल्लीन रहता है, वह प्रकृतिलय कहाता है। जैसे कि कपिलाचार्य जीने **'सत्त्वरजस्तमसां०'** (सां० १।६१) में और **'स्थूलात्०'** (सां० १।६२) से **'ततः प्रकृतेः'** (सां० १।६५) पर्यन्त सूत्रों में वर्णित किया है कि सूक्ष्म से स्थूल की ओर और स्थूल से सूक्ष्मता की ओर चले। इससे विवेक प्राप्त होगा।

अत : प्रकृतिलय का अर्थ है प्रकृति के साथ सम्बद्ध होकर महान् परिश्रम से उसकी सूक्ष्मावस्था को जानने वाला।

प्रश्न - कैवल्य-जैसा अनुभव करते हैं, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - जब तक समाधि-अवस्था में रहते हैं, तब तक मुक्ति जैसा अनुभव करते हैं। यह अवस्था स्थूलशरीर के विद्यमान होने पर ही होती है, नष्ट होने पर नहीं समाधि की स्थिति में योगी दुःख-रहित होकर सुख का अनुभव करता है। अतः कहा है कि कैवल्य-जैसा अनुभव करते हैं।

'भवप्रत्यय' और **'उपायप्रत्यय'** दो प्रकार की असम्प्रज्ञात समाधि है। भवप्रत्यय का अर्थ लिखा जा चुका है। उपायप्रत्यय नाम इसलिए है कि इस समाधि को प्राप्त करने में विशेष उपायों का अनुष्ठान किया जाता है। मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा से यम, नियम, आसन, प्राणायामादि और श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि उपायों का प्रयोग होता है।अतः उपायप्रत्यय नाम रखा है।

इस लेख में 'भवप्रत्यय, 'उपायप्रत्यय, विदेह, प्रकृतिलयादि' अनेक शब्दों पर विचार और इन शब्दों के वास्तविक अभिप्राय को समझने का प्रयास किया है। आशा है कि विद्वान् महानुभाव इस पर गम्भीरता से विचार करेंगे और जो भी इसमें त्रुटि होगी उसको भी बतलावेंगे और परवर्ती टीकाओं की एवं मिथ्या बातों के खण्डन में सहायक बनेंगे।

१६

क्या 'हठयोगप्रदीपिका' का योग 'पातञ्जल' योग के अनुकूल है ?

इस वर्तमान समय में 'हठयोगप्रदीपिका' को योग के विषय का एक महान् ग्रन्थ माना जाता है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि इस ग्रन्थ में पातञ्जल योग-दर्शन व अन्य ऋषियों के अनुसार ही योग का स्वरूप बतलाया गया है और इसी योग को प्राचीन काल में ऋषि स्वयं करते थे तथा दूसरों को इसकी शिक्षा देते थे। इस हठयोगप्रदीपिका के लेखक स्वात्मराम जी हैं और जिस टीका को इस लेख में उद्धृत किया जायेगा उस टीका के कर्ता डा० चमनलाल गौतम जी हैं। अब इस पर विचार किया जाता है कि हठयोगप्रदीपिका के विषय में जो उपर्युक्त मान्यता है वह सत्य है वा नहीं ?

(१) **हठयोगप्रदीपिका में यम-नियमों का परित्यागं** – पतञ्जलि जी ने योग के आठ अंग माने हैं परन्तु हठयोगप्रदीपिका में यम और नियम को प्रथम और दूसरे अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। पतञ्जलि ने यमों के पालन करने पर विशेष बल दिया है-"**जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्**"। (योग० २।३१)

योग-जिज्ञासु के लिए जाति, देश, काल और समय के द्वारा भङ्ग न करते हुए पालन करने का विधान किया है। मन, वचन, कर्म से सब प्रकार सर्वदा यम-नियमों का पालन किये बिना कोई मनुष्य योगी नहीं बन सकता। जिस प्रकार से योगी बनने के लिए यमों का पालन करना आवश्यक है, उसी प्रकार से नियमों का पालन करना भी आवश्यक है। यम-नियमों के पालन करने से ही योग की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। हठयोगप्रदीपिका में यम-नियमों को योग का प्रथम अङ्ग स्वीकार नहीं किया

गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ पतञ्जलि आदि ऋषियों के अनुसार नहीं, प्रत्युत विरुद्ध है।

उपदेश १। श्लोक १९ ।। "हठस्यप्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते" टीका-"आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है, इसलिए पहले आसन को ही कहते हैं"।

प्रश्न-अहिंसादि दस यम, तपादि दस नियम हठयोगप्रदीपिका के उपदेश एक / १७,१८[1] श्लोक में स्वीकार किये गये हैं। क्या यह यम-नियमों का स्वीकार नहीं है?

उत्तर - नहीं! क्योंकि इन दोनों श्लोकों को कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं। और यदि इनको यम-नियमों के रूप में स्वीकार कर भी लिया जाय, तो परस्पर विरोध उत्पन्न होता है। अभी बतलाया गया है कि हठयोगप्रदीपिकाकार ने आसन को योग का प्रथमाङ्ग स्वीकार किया है। यदि आसन प्रथमाङ्ग है तो यम-नियम प्रथम और दूसरा अंग नहीं हो सकते और यदि यम-नियम प्रथमाङ्ग हैं तो आसन योग का प्रथमाङ्ग नहीं हो सकता। इस प्रकार ग्रन्थकार की अपनी ही मान्यता का स्वयं खण्डन हो जाता है। अतः वास्तविकता यह है कि इस ग्रन्थ में यम-नियमों को योग का अंग नहीं माना।

(२) वज्रोली मुद्रा -

(उपदेश ३।८३,८४,८५,८६)[2] टीका निम्न प्रकार है-"टीका जो योगी

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यक्षमाधृतिः ।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ।। (१७)
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।। (१८)
(हठयोग० उपदेश १। १७, १८ श्लोक)

२. स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ।। (८३)

वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है यह योग-शास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छापूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धि-भाजन होता है। वज्रोली के साधन के लिए जो दुर्लभ वस्तुएं हैं उन्हें मैं बतलाता हूँ। इनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो वा नारी बिन्दु के झरने से रोकने या आकुञ्चन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे की बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के सञ्चारार्थ प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे जिस प्रकार अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंक मारते हैं।

(उपदेश ३।श्लोक ८७[१]) की टीका-"योनि में पतित होते हुये बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिये।" इन श्लोकों में जो योग-सिद्धि के लिए वज्रोली मुद्रा की विधि बतलाई है इसके अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति योग-दर्शन में बताये अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कभी भी नहीं कर सकता, हां, आचारहीन अवश्य ही बन जायेगा। योग-सिद्धि के लिए वज्रोली मुद्रा का विधान करने वाला व्यक्ति योग-विद्या का ज्ञाता नहीं हो सकता। योगविद्या से अनभिज्ञ और विषयभोगों का इच्छुक व्यक्ति ही ऐसी बात लिख सकता है अन्य नहीं। 'जो व्यक्ति योग-दर्शन के नियमों का पालन नहीं करता वह योग की सिद्धि को प्राप्त कर लेता है' यह मान्यता निराधार है। इस वज्रोली मुद्रा के द्वारा लाखों स्त्री-पुरुषों को आचारहीन

तत्र वस्तु द्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ (८४)
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ (८५)
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ (८६)

(हठयोग० उपदेश ३। ८३-८६)

---

१. नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वगासरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ (८७)

हठयोग० उपदेश ३। श्लोक-८७)

बनाया जा रहा है। वज्रोली मुद्रा से योग की सिद्धि का प्रचार किया जा रहा है। इससे योग की सिद्धि तो नहीं हो सकती, हाँ! अनुचित विषय-भोग की सिद्धि हो सकती है। वज्रोली मुद्रा करने वाला व्यक्ति मन को वश में नहीं कर सकता। जब मन वश में नहीं तो फिर योग की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है?

इस वज्रोली का करने वाला एक युवक मुझे दिल्ली में मिला। मैंने उससे पूछा कि आप कितने दिनों से इसका अभ्यास कर रहे हैं? उसने उत्तर दिया कि इसका अभ्यास करते हुए मुझे दस वर्ष हो चुके हैं। मैंने पुनः पूछा इससे आपको क्या लाभ हुआ? उसने कहा कि मैं मूत्रेन्द्रिय में नली डालकर बाहर से पानी खींच लेता हूं। कितनी अज्ञानता की बात है कि एक युवक दस वर्ष अशुभ कर्म में लगाता है और ब्रह्मचर्य का नाश करता है। तब उसका यह परिणाम निकलता है कि-मूत्रेन्द्रिय से पानी खींच लेना। यदि वे युवक दस वर्ष वेद के अध्ययन और यम-नियम के पालन में लगाते तो वह विद्वान्, बलवान् और सदाचारी बन जाते। जो व्यक्ति अपने को महान् बना सकता है, वह लाखों का उपकार कर सकता है। वज्रोली मुद्रा करने वाला अपना जीवन तो नष्ट भ्रष्ट करता ही है परन्तु सहस्रों लोगों के जीवनों को भी बिगाड़ता है। यह वज्रोली मुद्रा मानव-जाति का विनाश करने वाली है। इसलिये इसको कभी भी नहीं करना चाहिये।

वेदशास्त्रों की निन्दा -

(उपदेश ४।श्लोक ३५,३६[१])टीका-"वेद, शास्त्र और पुराण सभी सामान्य गणिका के समान और शांभवी मुद्रा ही कुलवधू के समान गोपनीय है।" इस श्लोक में वेद-शास्त्रों और पुराणों को वेश्या के समान बतलाया है। योग-दर्शनकार ने तो पांच नियमों में एक स्वाध्याय को लिया है। स्वाध्याय

१. वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।। (३५)
अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ।। (३६)
(हठयोग० उपदेश ४ । ३५-३६)

की व्याख्या व्यासजी ने निम्न प्रकार की है "स्वाध्यायः प्रणवादि-पवित्राणां जपो मोक्ष-शास्त्राध्ययनं वा" (योग० पा० २।सू० १ पर व्यासभाष्य) मोक्ष-शास्त्र-वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थ जो मोक्ष के स्वरूप को बतलाने वाले हैं उनका अध्ययन और प्रणव=ओम् का जप स्वाध्याय कहलाता है। ऋषि दयानन्द ने योग सूत्र २-२७ की व्याख्या करते हुए ऋ० भाष्य० भू० में लिखा है- (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्ष-विद्या विधायक वेद-शास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना-कराना।" मनु महाराज ने कहा है कि "नास्तिको वेदनिन्दकः" वेद की निन्दा करने वाला मनुष्य नास्तिक है। इस प्रकार से लाखों करोड़ों वर्षों से विद्वान् योगी लोग वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों को पढ़ते-पढ़ाते आये हैं और वेद मार्ग पर चलने से लौकिकोन्नति तथा योग की सिद्धि मानते मनवाते रहे हैं। परन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार वेदशास्त्रों को वेश्या के समान बतलाता है। इसको ऐसा लिखते हुए कुछ भी लज्जा नहीं आई।

(उपदेश ४। श्लोक ४०[१]) में लिखा है-"टीका-किसी आगम के जाल से और किसी निगम के फलों से जो मोहित रहते हैं वे तारक को नहीं जानते।" इस श्लोक में आगम को जाल बतलाया है और जो निगम के फलों में मोहित रहते हैं वे तारक को नहीं जानते यह दूसरी बात कही है। ये निगम तथा आगम वेद-शास्त्रों के वाची शब्द हैं जो सत्यज्ञान के भण्डार हैं। जो उन वेद-शास्त्रों को जाल बतलाता है वह स्वयं कितना जाली होगा? यह अनुमान लगाया जा सकता है। जिन लोगों को वेदशास्त्रों का कुछ ज्ञान नहीं और वे सबके गुरु बनना चाहते हैं। वे यह विचार करते हैं कि यदि हमसे कोई वेदशास्त्र की बात पूछेगा तो हम नहीं बतला पायेंगे। इसलिए वेदों का खण्डन करना लाभप्रद रहेगा। इस प्रकार के अनेक लोग हैं जो वेदों को जाल बतलाकर स्वयं को आचार्य सिद्ध करने में प्रयत्नशील हैं।

---

१ केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्॥ (४०)

(हठयोग० ४। ४०)

(४) योग-सिद्धि के लिए कुण्डली की मिथ्या कल्पना-

(उपदेश ३।श्लोक १[१]) टीका-"जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं वैसे ही सम्पूर्ण योग-तन्त्रों का धारण कुण्डली करती है" । यहाँ कुण्डली को सब योगों का आधार बतलाना अनभिज्ञ लोगों की मनघड़न्त मान्यता है क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है ।

उपदेश ३। श्लोक १०५, १०६, १०७[२]) टीका-"जिस प्रकार कुञ्जी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं । जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं उसी द्वार के मुख को ढककर वह परमेश्वरी सोती है । कन्द ऊर्ध्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है । परन्तु मूढ़ों के लिए बन्धनप्रद हो जाती है । जो उसे जानता है वही योग का जानने वाला है । (उप० ३।१०५-१०७) ।

इन श्लोकों में कुण्डली को मोक्ष सिद्धि का आधार बतलाया है । यदि कुण्डली मोक्ष-प्राप्ति का आधार होती तो वेदों, वैदिक दर्शनों और ईशादि दशोपनिषदों में इसका वर्णन अवश्य ही मिलना चाहिए । परन्तु इन ग्रन्थों में योग-विषय को लेकर इस कुण्डली का वर्णन कहीं भी नहीं मिलता । योग के वास्तविक स्वरूप को बतलाने वाले योग-दर्शन और व्यास-भाष्य में इसका नामोनिशान भी नहीं है । यदि योग के लिए कुण्डली साधन होती तो पतञ्जलि जी इसका उल्लेख अवश्य ही करते । यजुर्वेद के

१ सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ।। (३ । १)

२. उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।। (३ । १०५)
येनमार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।। (३ । १०६)
कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ।। (३ । १०७)

(हठयोगप्रदीपिका)

४० अ० १४ मन्त्र[1] की व्याख्या करते हुए सत्यार्थप्रकाश ९ वें समु० में ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।" अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान से ही मुक्ति को मनुष्य प्राप्त होता है। ईशादि दस उपनिषदों में ईश्वर का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों का वर्णन है। परन्तु कुण्डली का साधन रूप में कोई वर्णन नहीं मिलता। कपिलाचार्य सांख्यदर्शनकार ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुष और प्रकृति का विवेक, वैराग्य और अभ्यासादि बतलाये हैं[2]। कुण्डली को मोक्ष का साधन कहीं भी नहीं लिखा। कणाद जी ने मोक्ष-प्राप्ति का साधन ६ पदार्थों[3] के वास्तविक ज्ञान को माना है कुण्डली को नहीं। न्यायदर्शनकार गौतम ने १६ पदार्थों के[4] स्वरूप-ज्ञान से मुक्ति मानी है, कुण्डली को मोक्ष का साधन नहीं बताया।

(उपदेश ३। श्लोक ११९, १२०[1]) टीका-"इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुखपूर्वक सोती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र

---

१. विद्याञ्चाऽविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। (यजु० ४०।१४)

२. विवेकान्निशेषदुःखनिवृतौ कृतकृत्यो नेतरान्नेतरात् ।। (सां.द. ३।८४)
तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः (सां.द. १।८३)
दुःखाद् दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोक्षः (सां.द. १।८४)
रागविरागयोर्योगः सृष्टिः (सां.द. २।९), ज्ञानान्मुक्तिः (सां.द. ३।२३)
बन्धो विपर्यात् (सां.द. ३।२४) आदि अनेक सूत्र हैं।

३. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्याविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्भ्याम्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। (वै.द. अ. १।आ. १।सू. ४)

४. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धांतावयवतर्कनिर्णयवादजल्प-वितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।।
(न्या. द. अ. १। आ. १। सू. १)

---

१. तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।। (११९)

से योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें ? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है। (उ० ३।११९-१२०)

'अरुन्धती' यहां पर कुण्डली का ही नाम है। इस श्लोक में कुण्डली से होने वाले फलों का वर्णन किया है। वास्तव में इसमें कोई तथ्य नहीं है। आजकल अनेक लोगों को कुण्डली-चालन की विधि सिखाई जाती है और कुण्डली चालन से समाधि का दम्भ भरा जाता है। इस कुण्डली के शिक्षक यह बतलाते हैं कि जब कुण्डली जाग जाती है तो शरीर में अशान्ति होती है। व्यक्ति इधर उधर उछलने लगता है। इन कुण्डली वालों के शिष्य स्वयं को पात्र सिद्ध करने के लिए अपने शरीर में अशान्ति दिखाने का प्रयत्न करते हैं। जिनकी कुण्डली नहीं जागती उनको अपात्र समझा जाता है। कुछ लोग अपने को अपात्रता से बचाने के लिए मिष बनाते हैं कि मेरी कुण्डली जाग गई है। जिसकी कुण्डली जाग जाती है उसको झट से सिद्धयोगी की उपाधि मिल जाती है। इस प्रकार सहस्त्रों लोग इस कुण्डली के जाल में फंसकर अपना और दूसरों का जीवन नष्ट-भ्रष्ट करते रहते हैं। इस कुण्डली के विषय में यह भी देखा और सुना जाता है कि कुण्डली से समाधि की सिद्धि मानने वालों में परस्पर अत्यन्त विरोध है। एक पुस्तक है **'परमयोग'**। इसके लेखक हैं **'स्वामी विद्यानन्द जी विदेह'**। इस पुस्तक में लिखा है कि स्त्रियों के शरीर में कुण्डली नहीं होती। इसलिए स्त्रियाँ परम योगिनी नहीं बन सकतीं। इसके ठीक विरुद्ध यह सुना जाता है कि विद्योत्तमा संन्यासिनी यह कहती हैं कि मेरी कुण्डली जाग गई है। ये दोनों मान्यताएं परस्पर विरुद्ध होने से सत्य नहीं हो सकतीं। वास्तव में ये दोनों मान्यताएं असत्य ही हैं।

येन सञ्चालिता शक्तिः सः योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।। (१२०)
(हठयोग. उपदेश ३ । ११९, १२०)

(५) जिह्वा के मूल में छिद्र करने का विधान–

(उपदेश ३।३४, ३५, ३६[१]) टीका–"संहुड़े के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वा-मूल की नाड़ी का रोममात्र छेंदन करे तथा पिसे हुए सैंधे नमक और हरड़ के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार मर्षण करे। सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद दे। इस प्रकार के क्रम से नित्यप्रति करने से छः मास में जिह्वामूल का शिरा-बन्ध नष्ट हो जाता है। (३।३४-३६) योगसिद्धि के लिए जिह्वामूल की नाड़ी के छेदन का विधान पतञ्जलि आदि योगज्ञों ने कहीं भी नहीं लिखा। इसलिए यह विधि संसार के लोगों को भ्रम में डालने वाली है। योगसिद्धि के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिह्वामूल नाड़ी के काटने से योगसिद्धि की बात तो दूर रही, बहुत से अनर्थ हो सकते हैं। इसलिए बुद्धिमान् लोग इन अनर्थकारी कृत्यों से दूर रहें और दूसरों को भी बचायें।

(६) खेचरी मुद्रा–

(उपदेश ३। ३७,४१[२]) टीका–"इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर उसे उलटी पीछे की ओर लौटाकर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे। वह खेचरीमुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते

---

१. स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय सतस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ (३४)
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ (३५)
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति॥ (३६)

२. कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥ (३७)
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता॥ (४१)

(हठयोग. ३।३४-३७, ४१)

हैं । (३७) जिस मुद्रा के द्वारा भौहों के मध्य आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है । (४१)

खेचरी मुद्रा का फल-

(उपदेश ३।४२, ४३, ४४[१]) टीका-खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाए तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और यदि बिन्दु चलायमान भी हो जाये तो योनिमण्डल में पहुंचकर भी वह वज्रोली के बन्धन से खिंचा हुआ ऊपर चला जाता है । तालु विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है । (३। ४२-४४)

इस खेचरी मुद्रा का योग-सिद्धि के रूप में वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता और न अनुभव में आता । भोले-भाले लोगों को ठगने के लिए यह खेचरी मुद्रा एक जाल बनाया है । खेचरी मुद्रा सिद्ध व्यक्ति का कामिनी स्पर्श हो जावे तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और हो भी जाये तो वज्रोली के द्वारा वह ऊपर खिंचा चला आता है । इससे तो यह सिद्ध होता है कि व्यभिचार करने का हठयोगप्रदीपिका में स्पष्ट विधान है । यदि कोई व्यक्ति आचारहीनता में पकड़ा जाता है तो वह यह कह सकता है कि मैं खेचरी मुद्रा को सिद्ध कर चुका हूं, मेरा वीर्य कभी खण्डित नहीं होता । यदि होने लगे तो वज्रोली के द्वारा उसको ऊपर खींच लेता हूं । अतः मैं दोषी नहीं हूँ । और हमारे धर्म में ये कृत्य उत्तम माने जाते हैं । इनके करने में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता, इत्यादि इस प्रकार से खेचरी मुद्रा और

---

१. खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्या श्लेषितस्य च ।। (४२)
चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।। (४३)
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ।। (४४) (हठयोग.४२-४४)

वज्रोली आदि के आधार पर अनेकों लोग अपनी कामवासना की तृप्ति करते रहते हैं और दूसरों को भी सिखाते हैं । खेचरी मुद्रा का यह फल भी बताया जाता है कि जिह्वा को उल्टी करके तलवे में लगाने से योगी को रस की प्राप्ति होती है । वास्तव में यह रस-प्राप्ति की बात शतप्रतिशत असत्य है, क्योंकि यह अनुभव से सिद्ध होता है कि जब योगाभ्यासी ईश्वर का ध्यान करता है तो रस की प्राप्ति होती है और जब ध्यानावस्था में जिह्वा को उल्टी करके तलवे में लगाता है तो वह रस नष्ट हो जाता है । इन खेचरी मुद्रा वालों ने लाखों लोगों को परमात्मा के आनन्द से वञ्चित कर दिया है । इसलिए योगजिज्ञासुओं को इन मुद्राचार्यों से और मुद्राओं से दूर रहना चाहिये ।

(७) मुद्रओं का शिक्षक साक्षात् ईश्वर है-

(उपदेश ३ । १२९[१]) टीका-"मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है ।" (३ । १२९)

इन मुद्राओं के प्रचारकों ने गुरु को साक्षात् ईश्वर सिद्ध करने का यत्न किया है । ये लोग अपने को ईश्वरसिद्ध बताकर छल-कपट से संसार के लोगों की धन-संपत्ति का हरण कर विषय-भोगों में तल्लीन रहना चाहते हैं ।

(८) प्राणायाम-

(उपदेश २ । ११[२]) टीका-"प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल और आधी रात के समय अस्सी-अस्सी कुम्भकों को करता हुआ धीरे-धीरे अभ्यास करे ।" (उपदेश २ । ११)

यह प्राणायाम करने का विधान अनुचित है । क्योंकि प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल, आधी रात प्राणायाम करने से व्यक्ति के जीवन की

---

१. उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुःस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।। (३ ।१२९)

२. प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ।। (२ । ११) (हठयोगप्रदीपिका)

सुरक्षा होना कठिन है। क्योंकि शरीर, मन और आत्मा को सुरक्षित रखने के लिए खान, पान, शयनादि के लिए समय चाहिए। अपने जीवन की रक्षा के साथ-साथ कुछ दूसरों को भी सहयोग देना आवश्यक है। क्योंकि एक मनुष्य स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए दूसरों से अनेक प्रकार की सहायता प्राप्त करता है। जब एक व्यक्ति दिन-रात प्राणायाम ही करता रहेगा तो वह न अपनी उन्नति कर सकता, न दूसरों की। इस अति प्राणायाम से व्यक्ति निर्बल और रोगी होकर मृत्यु को भी प्राप्त हो सकता है। ऋषियों ने प्राणायाम के साथ-साथ यम-नियमों का पालन करना भी आवश्यक बतलाया है। केवल सांस घोटने मात्र से कोई भी योगी नहीं बन सकता। योगी बनने का आधार ईश्वर, जीव और प्रकृति-विकृति का वास्तविक ज्ञान, शुद्ध कर्म तथा शुद्धोपासना है। यह चार समय का प्राणायाम अस्सी-अस्सी मिलाकर प्रतिदिन का ३२० (तीन सौ बीस) बनता है। इतना अधिक प्राणायाम करने से रूक्षता बढ़ जाती है। कभी-कभी मूर्छा आने लगती है। नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इस विधि-विरुद्ध प्राणायाम से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। एक युवक महेन्द्रगढ़ (हरियाणा) का रहने वाला मुझे मिला। उसने बतलाया कि अधिक प्राणायाम करने से मेरी बुद्धि खराब हो गई है।

ऋषि दयानन्द ने संस्कार-विधि में लिखा है कि "इसी रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ (इक्कीस) प्राणायाम करें" (गृहाश्रम प्रकरण, संस्कारविधि)। इस प्रकार से दोनों समय के प्राणायामों को मिलाकर ४२ प्राणायाम बनते हैं। यदि कोई बहुत बलवान् व्यक्ति हो और इससे दुगुना करे तब भी (८४) चौरासी प्राणायाम बनते हैं। हठयोगप्रदीपिका में सभी व्यक्तियों के लिए एक दिन में ३२० (तीन सौ बीस) प्राणायाम करने का विधान किया है। यह अत्यन्त हानिकारक है।

(९) नाक को अंगुलियों से पकड़ने की विधि-

(उपदेश २। ६४[१]) टीका-मध्यमा और तर्जनी के अतिरिक्त अन्य

---

१. यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम्॥ (हठयोग० २। ६४)
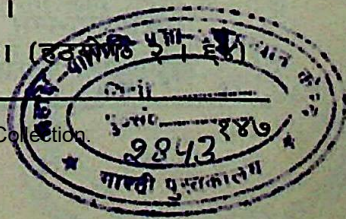
तीनों अंगुलियों से नासिका को मध्य से दृढ़तापूर्वक पकड़कर कुम्भक करें और बांयी नासिका से रेचक करें । (२।६४)

यह नासिका को अंगुलियों से पकड़कर प्राणायाम करना ऋषियों के विरुद्ध है । ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में लिखा है कि "नासिका को हाथ से न पकड़े ।" ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के उपासना विषय में ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि "नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उसके रोकने को प्राणायाम कहते हैं ।" पतञ्जलि और व्यास जी ने भी योगदर्शन में अंगुलियों से नासिका को पकड़कर प्राणायाम करने की विधि नहीं बतलाई है । अंगुलियों से नासिका को पकड़कर प्राणायाम करने में यह दोष है कि मनुष्य अपनी शक्ति से अधिक प्राण को रोक लेता है और उससे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं । मूर्छा आने लगती है । मानसिक शान्ति भङ्ग हो जाती है । यदि प्राणायाम करते हुये कोई ईश्वर का ध्यान करना चाहे तो नहीं कर सकता क्योंकि अधिक बलपूर्वक प्राण के रोकने से क्लेश उत्पन्न होता है । मन की प्रसन्नता समाप्त हो जाती है । अतः ध्यान नहीं लगता । इसलिए यह प्राणायाम की पद्धति हानिकारक है ।

(१०) क्या सभी आसन योग का अंग हैं -

हठयोगप्रदीपिका में सभी आसनों को योग का अङ्ग माना है । क्योंकि उसमें योग-दर्शनकार की भांति **'स्थिरसुखमासनम्'** (योग० २।४६, सांख्य० ३।३४) ऐसी कोई परिभाषा नहीं बताई गई है । सभी आसन जो कि हठयोगप्रदीपिका में स्वीकार किये गये हैं, वे ८४ हैं । इन ८४ आसनों में बहुत से आसन बहुत कठिन हैं । जिन आसनों पर व्यक्ति लम्बे काल तक सुखपूर्वक ठहर नहीं सकता और जिन आसनों में बहुत ही उछल-कूद करनी पड़ती है, उन आसनों को करते हुए साधक अपने मन को वश में नहीं कर सकता । आसन की सिद्धि के बिना प्राणायाम भी ठीक प्रकार से नहीं हो सकता ऐसा पतञ्जलिजी का सिद्धान्त है[१] । आसन के विषय में पतञ्जलि

---

१. स्थिरसुखमासनम् (योग० २।४६, सां० ३।३४)
तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (योग०)

ने कहा है कि **'स्थिरसुखमासनम्'** (योग० २।४६)। जो स्थायी हो और सुखप्रद हो। जिस आसन पर लम्बे काल तक सुखपूर्वक बैठा जा सके और प्राणायाम अच्छे प्रकार से किया जा सके, वही आसन योग का अंग बन सकता है। प्रत्येक आसन योग का अंग नहीं बन सकता। अतः महर्षि कपिल ने आसनों में सुखप्रद आसन ही को कर्त्तव्य माना और इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं किया कि आसनविशेष के करने से ही व्यक्ति को योगादि सिद्ध हो सकते हैं[1]।

(११) 'हठयोगप्रदीपिका' का योग मोक्ष का प्रतिबन्धक है –

'हठयोगप्रदीपिका' को आधार मानकर चलने वाले लोग लम्बे काल तक अनुचित प्राण घोटना सिखाते हैं और नाना प्रकार के आसनों का प्रशिक्षण करते हैं। तथा नेति, धोती आदि षट् कर्मों को करवाते हैं। और वज्रोली जैसी आचारहीन बनाने वाली अशुभ क्रियाओं को भी बतलाते हैं। इन्हीं सब के करने को योग कहते हैं। और इसी से मोक्ष-प्राप्ति मानते हैं। आजकल योगाचार्य बनने में कोई विशेष काल नहीं लगता न विशेष विद्या पढ़ने की आवश्यकता पड़ती है और यम-नियम का पालन भी नहीं करना पड़ता। खान-पान का भी कोई नियम नहीं है। शराब पीना, मांस खाना, व्यभिचार करना सब योग के अनुकूल माना जाता है। इन सब कुकर्मों के करने वाले स्त्री-पुरुष सब योगाचार्य बन जाते हैं। इन योगाचार्यों को धन-सम्पत्ति और सम्मान भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। इस प्रकार के दुष्टाचार का नाम योग रखने से विशुद्धयोग कलंकित हो जायेगा और बुद्धिमान् लोग इससे दूर भागने लगेंगे। इसलिए इस योग के नाम पर चलने वाली अन्धपरम्परा को रोकना और वास्तविक योग की परम्परा को चलाना सभी मनुष्यों का परम कर्त्तव्य है ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ३ रे समुल्लास में इस हठयोगप्रदीपिका को त्याज्य[2] लिखा है और कपोल-कल्पित मिथ्या ग्रन्थ माना है। यदि यह 'हठयोगप्रदीपिका' योग के

---

१. स्थिरसुखमासनमिति न नियमः (सांख्य ६।२४)

२. अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं, उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है............ योग में 'हठप्रदीपिकादि'०। (स० प्र० ३ समु०)
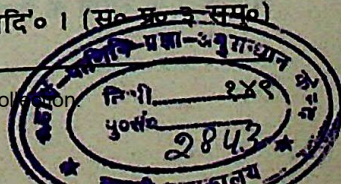
वास्तविक स्वरूप को बतलाने वाली होती तो ऋषि दयानन्द जैसे इसका खण्डन कभी न करते, क्योंकि वे सत्यग्राही थे ।

प्रश्न - जब यह हठयोगप्रदीपिका इतनी हानिकारक है तो फिर इसको सहस्रों लोग क्यों मानते हैं ?

उत्तर - इसको सम्मान मिलने के अनेक कारण हैं । कुछ को यहाँ पर उपस्थित किया जाता है ।

(१) जिस समय वेद, दर्शन और योग-विद्या के जानने वालों की न्यूनता हो गई तो स्वार्थी और योग में अनभिज्ञ लोगों ने ऐसे ग्रन्थ लिखे और उनका प्रचार-प्रसार किया ।

(२) वेद और योग-विद्या से रहित पदलोलुप राजाओं ने इन झूठे योगियों का सम्मान किया और सब प्रकार की सहायता प्रदान की ।

(३) इस हठयोग के मार्ग पर चलने वालों के लिए खान-पान ब्रह्मचर्यादि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है । विषयी लोगों को विषयभोगों की सामग्री पूर्णरूपेण उपलब्ध हो जाती है ।

(४) झूठा, छली, कपटी, शराबी, आचारहीन व्यक्ति भी थोड़े काल में आचार्य पद को प्राप्त कर लेता है और उसको सब प्रकार से सम्मानित किया जाता है ।

(५) जो लोग इस झूठे योग का प्रचार-प्रसार करते हैं उनको पर्याप्त धन मिलता है । उन्होंने इसको धन कमाने का अपना व्यापार बना रखा है ।

(६) इन तथाकथित योगियों के अनुसार न विद्या पढ़नी पड़ती है, न संयम करना पड़ता है और सब प्रकार के पाप करने पर भी मोक्ष की सिद्धि मानी जाती है ।

इत्यादि अनेक कारण हैं जिससे इस हानिकारक ग्रन्थ को भी योगजिज्ञासुओं ने अपनाया । इस कारण इसका सम्मान व प्रसार हुआ ।

प्रश्न - कुछ लोगों का यह मत है कि योगदर्शन में बतलाया योग आजकल के लोगों के लिए कठिन पड़ता है और 'हठयोगप्रदीपिका' में इसको

सरल बना दिया है । जिससे लोग सरलता से योगाभ्यास करके योगी बन सकें ।

उत्तर - वास्तव में हठयोगप्रदीपिका में योग को इतना कठिन बना दिया है कि उस पर चलने वाला व्यक्ति लाख जन्म में भी योगी नहीं बन सकता । जो लोग इसको सरल मानते हैं, वे योग के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते । जिस पर चलकर व्यक्ति अज्ञानी, आचारहीन, निर्बल, रोगी, स्वार्थी बन जाता है वह सरल कैसे हो सकता है ? इस हठयोग की पद्धति को आधार बनाके चलने वाला व्यक्ति वास्तविक योग के स्वरूप को कभी भी नहीं समझ सकता । इस हठयोग-प्रदीपिका के प्रचार-प्रसार से आज देश और विदेश में सच्चे योग का लोप और मिथ्या योग का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से हो रहा है । इसका परिणाम अज्ञान, अन्याय, निर्बलता और क्लेशों की प्रवृद्धि है । इस अनर्थकारी झूठे योग को रोकना और वास्तविक योग का प्रचार-प्रसार करना प्रत्येक व्यक्ति का मुख्यकर्त्तव्य है । इस लेख में अनेक हेतुओं से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'हठयोगप्रदीपिका' का योग पतञ्जलि आदि ऋषियों के अनुसार नहीं है । अतः प्रत्येक स्त्री-पुरुष इस हठयोग पर चलकर अपने तन, मन, धन को नष्ट-भ्रष्ट न करे, किन्तु पातञ्जल योग पर चलकर ही अपना और दूसरों का कल्याण करे ।

✤ ✤ ✤ ✤
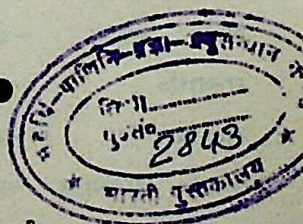
इति योग-मीमांसा पुस्तकञ्च उत्तरार्द्धः

पुस्तकश्च समाप्तः ।

पुस्तक में आये ग्रन्थों के संकेत चिह्न-

संकेत	ग्रन्थ	प्रमाण क्रम
ऋग्०	-ऋग्वेद	(मण्डल-सूक्त-मन्त्र)
यजु०	-यजुर्वेद	(अध्याय-मन्त्र)
अथर्व०	-अथर्ववेद	(काण्ड-सूक्त-मन्त्र)
योग०	-योगदर्शन	(पाद-सूत्र)
यो०	-योगदर्शन	(पाद-सूत्र)
सां०, सांख्य०	-सांख्यदर्शन	(अध्याय-सूत्र)
न्याय०	-न्यायदर्शन	(अध्याय-आह्निक-सूत्र)
वे०, वेद०	-वेदान्तदर्शन	(अध्याय-सूत्र)
वैशे०	-वैशेषिक दर्शन	(अध्याय-आह्निक-सूत्र)
चरक	-चरकसंहिता	(अध्याय-स्थान-श्लोक)
कठो०	-कठोपनिषद् (११)	(वल्ली-श्लोक)
केनोप०	-केनोपनिषद्	(खण्ड-श्लोक)
बृ० उ०	-बृहदारण्यकोपनिषद्	(अध्याय-ब्राह्मण-कण्डिका)
मुण्डकोप०	-मुण्डकोपनिषद्	(मुण्डक-खण्ड-श्लोक)
मनु०	-मनुस्मृति	(अध्याय-श्लोक)
निरुक्त	-निरुक्त	(अध्याय-पाद-खण्ड)
शतपथ ब्राह्मण	-शतपथ ब्राह्मण	
सत्यार्थ०	-सत्यार्थप्रकाश	(समुल्लास)
स० प्र०	-सत्यार्थप्रकाश	(समुल्लास)
ऋ०भू०, ऋ०भा.भू.	-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(विषय)
आर्योद्देश्यरत्नमाला	-आर्योद्देश्यरत्नमाला	
संस्कारविधि	-संस्कार-विधि	
गी०	-गीता	(अध्याय-श्लोक)
पञ्चतन्त्र	-पञ्चतन्त्र	
आर्यस०	-आर्यसमाज के नियम	